5

भूमि-प्रणाली

कृषि में उत्पादन के तीन कारक होते हैं : भूमि, मजदूर और पूंजी। कृषि-उत्पादन की वृद्धि तभी बढ़ाई जा सकती है यदि एक या इससे अधिक कारकों की वृद्धि कर दी जाए। और/या इन कारकों का प्रयोग करने की प्रणाली अथवा प्रणालियों में सुधार किए जाएं अर्थात् खेती की प्रणालियों और तकनीकों में अभिन्न परिवर्तन किए जाएं।

जबकि भूमि का कुल क्षेत्रफल व्यावहारिक रूप से स्थायी है और उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता अथवा आदमी द्वारा किए जाने वाले किन्हीं भी उपायों से उसे बढ़ाया नहीं जा सकता, ऐसी दशा में उत्पादकता अधिकतर इस बात पर निर्भर है कि उस भूमि को किस प्रकार रखा और उसका उपयोग किया जा सकता है अर्थात् देश में भूमि प्रणाली किस प्रकार की है अथवा कृषि-ढांचा कैसा है—स्वतंत्र किसान, सहकारी या सामूहिक फार्म, बहुत बड़े सरकारी या निजी फार्म।

हमारे कृषिक संगठन (वस्तुतः समस्त अर्थव्यवस्था) के यथासंभव चार उद्देश्य हो सकते हैं।

(क) अधिकाधिक धन पैदा करना अथवा गरीबी हटाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत को ऐसी कृषि-प्रणाली की आवश्यकता है जो समय बीतने के साथ-साथ प्रति एकड़ या यूनिट भूमि में अधिक अन्न और कच्चा माल उपजाए अथवा अधिक से अधिक अन्न और कच्चे माल के उपजाने में सहायता करे।

(ख) पूर्ण रोजगार की व्यवस्था। यद्यपि यह अंतिम उद्देश्य है कि भूमि पर कम और बहुत ही कम लोग काम पर लगें ताकि कृषि से अधिक से

अधिक कामगार मुक्त होकर औद्योगिक माल के उत्पादन और सेवाओं में खप सकें जिसकी कि आज सभ्य समाज को आवश्यकता होती है, फिर भी जब तक लाखों बेरोजगार और कम-रोजगार व्यक्ति हमारे देश में रोजगार या पूर्ण रोजगार के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं तब तक हमें अन्य प्रणालियों की तुलना में ऐसी कृषि-प्रणाली की आवश्यकता है जो यथासंभव प्रति एकड़ अधिकतम रोजगार उपलब्ध कराती है।

(ग) धन का उचित वितरण अथवा आय की अनुचित असमानताओं को दूर करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आज की उन वर्तमान सम्पत्तियों की सीमा बांधी जाएगी जो तुलनात्मक रूप से बहुत अधिक हैं और भविष्य में भूमि-प्राप्ति की भी सीमा बांधनी पड़ेगी और यदि संभव हुआ तो इसके लिए एक समान स्तर रखा जाएगा : और

(घ) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अनुरक्षण अथवा लोकतंत्र शासन को प्रोत्साहन। इसके अन्तर्गत यह आवश्यक है कि प्रत्येक किसान को उस भूमि का स्वामी बना दिया जाए जो उसके स्वामित्व में है। इसका अर्थ यह है कि वह अपने रहन-सहन के लक्ष्य में स्वतंत्र है और उसके सिर पर भूमि-बेदखली की धमकी सवार नहीं है।

हमारा यह उद्देश्य है कि हम यह जांच करें कि जो भूमि हमें प्रकृति ने प्रदान की है उसका सबसे अच्छा उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। भूमि की वे कौन सी शर्तें अथवा परिस्थितियां होनी चाहिए जिनमें हम भूमि के स्वामी बनें ताकि ऊपर बताए गए उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। विभिन्न विकल्पों की जांच से यह पता लगेगा कि किसानों का स्वामित्व अथवा उन छोटे निजी अथवा पारिवारिक फार्मों की प्रणाली, जो उन लोगों के स्वाधिकार में है जो वास्तव में उन्हें चलाते अथवा उन पर काम करते हों, जिनमें से प्रत्येक स्वतंत्र हो और सेवा सहकारी समितियों द्वारा आपस में सम्बद्ध भी हो, इसका सही उत्तर है।

संयुक्त और सामूहिक खेती

हमारे देश में अर्थशास्त्रियों और सामान्य रूप से बुद्धिजीवियों ने अधिकांशतया मार्क्स के विचारों को स्वीकार किया है जिसके ऐतिहासिक विश्लेषण के साथ-साथ आर्थिक विश्लेषण का केन्द्रीय सार बड़े पैमाने पर उत्पादन को वरीयता देना और इस प्रकार इसे आवश्यक बना देने का आधारभूत विश्वास था। उनके लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन सामान्य जनकल्याण के लिए पहली शर्त थी। वह शर्त उद्योग के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से महसूस की गई थी; मार्क्स ने यह मान लिया था कि यही प्रक्रिया कृषि के क्षेत्र में भी अवश्य अपनाई जाएगी।

मार्क्स के अनुसार किसान मिट ही जाएगा यदि वह केवल किसान ही बना रहेगा और जो अनिष्ट किसान को वशीभूत किए हुए था वह उसकी छोटी-छोटी जोतें

थीं । न तो किसान और न ही उसकी कार्यपद्धति प्रगति के अनुरूप थी और समाज का विकास उन दोनों पर हावी था । कम्युनिस्ट घोषणापत्र इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तर्कसंगत था—आम योजना के अन्तर्गत असंख्य मजदूरों की सहायता से भूमि में वैज्ञानिक ढंग से खेती करना ।

मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त के इस पक्ष को छोड़कर कोई भी अन्य पक्ष अपेक्षाकृत अधिक विवादहीन होकर स्वीकार नहीं किया गया । मार्क्स ने जब यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था उस समय उद्योग के समान कृषि में भी सम्पत्ति बराबर केन्द्रित हो रही थी और बड़े-बड़े उत्पादक छोटे उत्पादकों को हटा रहे थे । उस समय कृषिक समस्याओं का वैज्ञानिक रूप से परीक्षण प्रारंभ नहीं हुआ था और उनका कृषि तथा उद्योग के मध्य युक्तियुक्त समानान्तरवाद अकाट्य लगने लगा था । यह भुला दिया गया था कि जब मार्क्स अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे उस समय वह इंगलैंड में रह रहे थे जहां न तो किसान ही थे और न ही उनके दृष्टिकोण को चुनौती देने वाले कृषि विषयक प्रश्न थे । उन्होंने कृषि सम्बन्धी स्थिति का जो वर्णन किया है वह अंग्रेज मजदूर के जीवन और अंतिम शताब्दी की मध्य अवधि के लगभग आयरलैंड के दयनीय किसान के जीवन पर आधारित है । इसके अलावा यह वह अवधि थी जब कुछेक ही बड़े-बड़े स्वामियों के हाथों में भूमि भी केन्द्रित हो रही थी । एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह भी थी कि राजनीतिक और सामाजिक दबाव द्वारा (घेरों द्वारा और अंशतः किसानों की मुक्ति के लिए कीमत चुकाकर) बड़ी-बड़ी भूसम्पत्तियों में वृद्धि की गई और इस उन्मुक्त प्रतियोगिता में इससे अधिक अच्छी प्रणाली नहीं आई और यह तथ्य उनके दृष्टिकोण से नितांत ओझल हो गया । फिर भी मार्क्स ने कृषि-विकास के लिए जो अपने मूल विचार दिए हैं वे प्रारंभ से ही कम्युनिस्ट लोगों के मस्तिष्कों में छाए रहे जबकि एंजिल्स ने यह वक्तव्य दिया था कि मार्क्स अपने उन मामलों की संगतता पर स्वयं ही संदेह करने लगे थे, जैसाकि पूर्वी यूरोप में खेती करना पूंजीवादी ढंग नहीं था ।

डेविड मित्रेनी ने कहा है कि "1894 में 'कैपीटल' के तीसरे खंड के छपने के बाद ही मार्क्सवादी मंच के तख्ते हिलने लगे । 1895 में जर्मन जनसंख्या की गणना (जो 1882 के बाद पहली बार हुई थी) यह स्पष्ट कर दिया कि किसान मरने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं । 1882 और 1895 के मध्य 2 से 20 हेक्टेयर तक जोतों की संख्या 1.26 प्रतिशत बढ़ी और 659, 259 हेक्टेयर (लगभग 16,50,000 एकड़) में खेती की गई । 1907 में जर्मन जनसंख्या की गणना की गई जिससे इस सिद्धान्त से जुड़े रहने का भाव बिल्कुल ही समाप्त हो गया । इससे यह विदित हुआ कि गत वर्षों में राज्य शासन से पूंजी पर आधारित कृषि को जो कई लाभ मिले हैं उसके बावजूद भी बड़ी-बड़ी भूसम्पत्तियां और खेत बराबर कम होते गए ।"[1] यही तथ्य यूरोप और अन्य महाद्वीपों और हालैंड तथा अन्य देशों में सामने आया ।

1. 'मार्क्स अगेन्स्ट द पीजन्ट', जार्ज वेडिनफैल्ड एंड निकलसन लिमिटेड, लंदन, पृष्ठ 25.

इन तथ्यों के होते हुए भी और मार्क्स साहित्य में अंकित बड़े पैमाने की खेती के जो दिखते हुए लाभ बताए हैं उनसे अभिभूत होकर हमारे देश के कम्युनिस्ट और उनके साथी भी भूमि-सुधार को संयुक्त अथवा सहकारी खेती के समान मानते हैं जिसमें किसान अपनी अलग-अलग जोतों को एकत्र कर लेंगे ताकि एक बड़ा फार्म तैयार हो सके जिस पर सभी मिलकर खेती कर सकेंगे। इस प्रकार का बड़ा खेत अवश्य ही बड़ी मशीनों से जोता-बोया जाएगा। किसानों और देश के हितचिंतक यह विश्वास करते हैं कि बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग किसी न किसी रहस्यमय ढंग से प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा सकेगा। वे न तो सोचने के लिए रुकते हैं और न तर्कसम्मत बात सोचना चाहते हैं। इसलिए कृषि मशीनरी और प्रस्तुत आकार की जोतों के उपयोग का समायोजन किए बिना ही उन्होंने यह निर्णय किया है कि बड़े-बड़े सम्मिलित फार्म बनाकर बड़ी-बड़ी मशीनों की पूर्ति के लिए जोतों के आकार बना लिए जाएं जो भारत (और अन्य देशों) में बहुत छोटे होते हैं।

प्रबंध की जाने वाली इकाई अथवा फार्म का क्षेत्रफल जोतों को इकट्ठा करके जितना ही बढ़ाया जाए उसके अनुसार सहकारी खेती का समर्थन किया गया है और इसके साथ ही साथ इसे छोटी और अलाभकारी जोतों को समाप्त करने अथवा उनके दोषों को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय माना गया है।

यदि उनके संकल्प इस बात का कोई निर्देश हैं, तो इस देश में एक या दो दलों को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों ने इस बात को स्पष्ट किया है अथवा कम से कम बड़े सामूहिक सहकारी फार्मों की संकल्पना को साफ-साफ बताया है जो सर्वसत्तात्मक देशों से आई है और अब यह विचारधारा वहां भी नहीं है और अन्यत्र भी वैसी लोकप्रिय नहीं है जैसी कि कभी थी। यह भी 'कोलखौज और कम्यून' के समान ही अस्वैच्छिक संगठन है जो रूस और चीन में कृषि-प्रणाली का निर्माण करते हैं। स्पष्टतः इस प्रकार की प्रणाली कभी भी लोकतंत्रीय समाज में नहीं आ सकती थी।

रूस और चीन दोनों ही देशों के लोग सहकारी संस्थाओं की ओर उन्मुख हो गए और ठीक इसी प्रकार की अवस्थाओं में समूह अथवा कम्यून में बदलने लगे; पहले, ज़मीन ज़ब्त की गई और ज़मींदारों को वास्तविक रूप में दिवालिया बनाया गया; और उसके बाद ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े बांटे गए तथा किसान की अर्थ-व्यवस्था की सहायता के लिए घोषणाएं की गईं। यह पता लगा कि किसान अर्थ-व्यवस्था, जो अन्ततोगत्वा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था थी, से व्यक्तिवाद उत्पन्न हुआ और उत्पादन की क्षमता कम होती गई; किसानों की समितियों को प्रोत्साहित किया गया जहां सबसे पहले श्रमिकों और पशुधन को ही एकत्र किया गया था और उसके बाद भूमि को भी उस समय तक सुधारा गया जब तक कि कुलक अथवा कम्यून बने जिससे विश्व में यह घोषणा हुई कि सामूहिक अथवा सामुदायिक खेती किसानों के लिए अधिक लाभप्रद है और उन्होंने इस प्रणाली को सहर्ष स्वीकार किया है और वे 'उफनते ज्वार' के समान 'उन्नत' सहकारी समितियों की ओर तेजी से अग्रसर हुए हैं।

सोवियत रूस और चीन के कम्यून्स में किसानों को सामूहिक कार्यों की ओर ले जाने के समान कारण हैं अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन की तुलना में राजनीतिक नियंत्रण के अन्तर्गत आम जनता को बनाए रखना है। सामुदायिक अथवा बड़े सामूहिक फार्म राज्य के अधीन रहेंगे और उन्हें इस बात पर बाध्य किया जाएगा कि वे फार्म की पैदावार राज्य को बहुत कम कीमतों पर देते रहें जो बाजार में वर्तमान कीमतों से कम होंगी। यह उत्पादन अपेक्षाकृत ऊंची कीमतों पर शहरों अथवा बाह्य विश्व में बेचा जाएगा। लाखों स्वतंत्र किसानों की अर्थव्यवस्था को ऐसा नहीं बनाया जा सका कि राज्य को 'अतिरिक्त उत्पादन' अनिवार्य रूप से दिया जा सके।

लेनिन ने यह घोषणा की थी कि स्वतंत्र कृषि का समाजवाद में कोई स्थान नहीं है क्योंकि इससे पूंजीवाद पैदा होता है और इसके कारण मध्यवर्गीय स्थिति प्रतिदिन प्रति घण्टा बहुत बड़े पैमाने पर अनवरत उत्पन्न होती है। इसलिए मार्क्स के समाजवाद के पथ-प्रदर्शन के अनुसार राज्य ने इस वर्ग के अन्तिम रूप से उन्मूलन के लिए लगातार साधनों का अनुसरण किया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति से काफी वर्ष पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1938 में राष्ट्रीय योजना आयोग की नियुक्ति की जिसके अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने उन सामान्य नियमों को व्यक्त किया जो अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद हमारी भूमि-नीति का मार्गदर्शन करेंगे। उनका वक्तव्य इस प्रकार है :

> "कृषि भूमि, खान, खदान, नदियां और वन राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप हैं जिसका स्वामित्व सामूहिक रूप से भारतीय जनता के हाथों में ही रहेगा। सहकारी नियम सामूहिक और सहकारी फार्मों के विकास द्वारा भूमि को काम में लाने के लिए प्रयोग किया जाएगा। फिर भी यह प्रस्ताव नहीं किया गया कि छोटी जोतों में किसान द्वारा खेती को समाप्त कर दिया जाए। किसी न किसी प्रकार से सामूहिक खेती शुरू करानी ही थी लेकिन संक्रांति काल के समाप्त होने के बाद ताल्लुकेदार, जमींदार आदि जैसे बिचौलियों को मान्यता नहीं देनी थी। इन वर्गों के लोगों को जो अधिकार और खिताब दिए गए थे उन्हें उत्तरोत्तर खरीदना चाहिए। राज्य सरकारों को खेती योग्य बंजर भूमि में सामूहिक खेती शीघ्र ही प्रारंभ करानी थी। सहकारी खेती व्यक्तियों अथवा संयुक्त स्वामित्व के साथ सम्मिलित की जानी थी। विभिन्न प्रकार की खेती के लिए कुछ ढील भी देनी थी ताकि अधिक अनुभव के साथ कुछ विशेष प्रकार की खेती को विकसित किया जाए जो अन्य प्रकार से अपेक्षाकृत अधिक प्रोत्साहन पा सके।"

पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) संयुक्त सहकारी कृषि के बारे में मौन रही। सहकारी खेती करने के बारे में विचार भी स्पष्ट नहीं थे, फिर भी नेहरू की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) में यह घोषणा की गई कि "दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में मुख्य कार्य ऐसे सभी आवश्यक

कदम उठाना होगा ताकि सहकारी खेती के विकास के लिए ठोस आधार उपलब्ध हो सके। सहकारी खेती में आवश्यक रूप से भूमि के टुकड़ों को एकत्र करना और संयुक्त प्रबंध करना निहित है। फिर भी विकास की इस अवस्था में काफी शिथिलता इस प्रकार आवश्यक है कि भूमि के अलग-अलग टुकड़ों को चकबंदी से एकत्र किया जाए और उनमें सहकारी यूनिटों द्वारा खेती की जाए।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जनवरी 1959 में नागपुर में आयोजित पूरे सत्र में यह प्रस्ताव पारित किया कि देश भर में सहकारी खेती शुरू की जाए। इस कार्य को प्रारंभ करने से पूर्व सेवा करने वाली सहकारी समितियों का निर्माण करना था। इस पुस्तक के लेखक ने, जो उस समय उत्तर प्रदेश कांग्रेस सरकार के राजस्व मंत्री थे, इस विचार का ज़ोरदार शब्दों में खंडन किया और ऐसा करने में उन्हें नेहरू को अप्रसन्न करके भारी कीमत चुकानी पड़ी।

इस प्रस्ताव के बाद एक कार्यकारी दल की नियुक्ति की गई ताकि वह "सहकारी संयुक्त कृषि के क्रियाशील कार्यक्रम बनाने में सहायक हो।" कार्यकारी दल ने यह सिफारिश की कि "(i) इस बात के प्रयत्न किए जाने चाहिए कि सहकारी समितियों की तात्कालिक संवृद्धि की जाए; (ii) ऐसे कानून जो किसी समुदाय या गांव को सहकारी समिति में शामिल करने के लिए बाध्य करें, उन्हें काम में नहीं लाना चाहिए; और (iii) जिन राज्य सरकारों ने इस प्रकार के कानून पहले ही बना लिए हों उन्हें इन कानूनों को लागू नहीं करना चाहिए और इस बात की यथाशीघ्र कार्यवाही करनी चाहिए कि ऐसे कानून शीघ्र ही रद्द कर दिए जाएं।" इस प्रकार तीसरी योजना में यह स्थिति रही : "मुख्य रूप से सहकारी खेती सामुदायिक विकास आन्दोलन द्वारा सामान्य रूप से कृषि संबंधी प्रयत्न की सफलता से उभरनी चाहिए। सहकारिता की प्रगति ऋण, विपणन, वितरण और संसाधन, ग्रामीण उद्योग की वृद्धि और भूमि-सुधार के उद्देश्यों की पूर्ति में होनी चाहिए।"

फिर भी पाठक आगामी पृष्ठों में यह देखेंगे कि कृषि-उत्पादन एक जैविक प्रक्रिया है। न तो इसमें समय बचाया जा सकता है और न कृषि को कूता जा सकता है। पौधे अपने बढ़ने के लिए उतना ही स्थान घेरते हैं और परिपक्व होने के लिए उतना ही समय लेते हैं चाहे उन्हें छोटे खेत में रोपा जाये या उन्हें बड़े खेत में रोपा जाए। ऐसा कोई भी वैज्ञानिक उपाय या आधुनिक प्रौद्योगिकी उपलब्ध नहीं है जो किसी बड़े फार्म पर उपयोग हो सके लेकिन किसी छोटे फार्म पर उसका उपयोग न हो सके। इसलिए किसी भी कारोबार के बढ़ा देने से कृषि के उत्पादन में वृद्धि नहीं हो जाती जैसाकि उद्योग की कतिपय शाखाओं में वृद्धि हो जाती है या हो सकती है। इसके विपरीत संयुक्त कारोबार में ज्यों-ज्यों प्रोत्साहन कमजोर पड़ते जाते हैं संयुक्त फार्मों में उत्पादन गिरता जाता है।

यदि किसी फार्म का आकार बढ़ा भी दिया जाए तो इससे रोजगार के अवसर नहीं बढ़ते अपितु श्रमिकों को यथोचित स्थान देने की आवश्यकता पड़ती है और उनके प्रबंध करने में कठिनाई होती है। किसी भी बड़े कारोबार में यंत्रीकरण की दिशा में

दबाव होते हैं इसलिए संयुक्त फार्म से बेरोजगारी की समस्या बढ़ेगी और उसका निराकरण नहीं होगा।

इसके अलावा, संयुक्त खेती के समर्थक यह भूल जाते हैं कि सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत कुछ ही बड़े निगमों का प्रबंध करना आसान होता है लेकिन असंख्य कृषि यूनिटों का प्रबंध करना संभव नहीं है, चाहे वे सहकारी फार्म ही क्यों न हों और उन फार्मों में काम करने वालों की दक्षता कितनी ही क्यों न हो तथा वे देश भर में फैले हुए हों। रूस और चीन को छोड़कर कई कम्युनिस्ट देशों ने कृषि के राष्ट्रीयकरण में हिचक दिखाई है। यहां तक कि यूगोस्लाविया और पोलैंड जैसे देशों ने भी कृषि को सार्वजनिक स्वामित्व नहीं दिया है।

यह वास्तव में असंभव ही है कि बहुत-से सदस्यों में से एक व्यक्ति की कार्य-प्रगति के मूल्यांकन का सही और संतोषजनक तरीका निकाला जाए। अतः संयुक्त खेती लड़खड़ा चुकी है या अन्ततोगत्वा लड़खड़ा जाएगी। यह आवश्यक है कि इस प्रणाली के लिए सौ से अधिक अलग-अलग कार्य के मापदंड होंगे या उनकी मांग की जाएगी। इस प्रणाली की सफलता के लिए आवश्यक अधिकाधिक उदारता, ईमानदारी और उत्तरदायित्व विरल हैं अथवा उन्हें कायम रखना कठिन है। कुछ ही ऐसे व्यक्ति हैं जो महत्वाकांक्षी और अनैतिक होते हैं अथवा किसी भी फार्म में कोई पद-भार संभालते हैं और प्राधिकार रखते हैं। ऐसे व्यक्ति अनेक व्यक्तियों के भोलेपन, सरलता और अज्ञानता का शोषण करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि हमारी जनता के आर्थिक जीवन में प्रभुता की प्रवृत्तियां उभरेंगी जो अन्ततोगत्वा राजनीति को भ्रष्ट कर देंगी।

कृषि विज्ञान और वाणिज्य के अलावा जीवन का एक मार्ग है जिसे सरलता से बदला नहीं जा सकता लेकिन संयुक्त सहकारी कृषि के समर्थक ऐसा करना चाहते हैं अथवा ऐसा करने का स्वप्न देखते हैं। किसी भी सहकारी अथवा सामूहिक फार्म में सम्मिलित होने का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति अपनी काफी स्वतंत्रता या पहल को अपनी इच्छा से ही त्याग दे जहां उत्पादन के सभी कारक अर्थात् भूमि, श्रमिक और पूंजी एकत्र की जाती है तथा ऐसा करने पर किसी दल विशेष के पक्ष में ही प्राधिकार हो जाता है। यह समझ की बात है कि ऐसी कृषि के रूप में किसान अपनी पहचान और अपना खेल दोनों ही खो बैठता है। वह अपने खेत का मालिक नहीं हो पाता तथा वह सहकारी अथवा सामूहिक खेती में कई लोगों के बीच में एक व्यक्ति रह पाता है। उसका अपना हितचिंतन दलगत हितचिंतन के अधीन हो जाएगा और उसे दलगत प्रबंध के नियंत्रण और निदेश के प्रति समर्पित होना होगा। इसलिए सामूहिक रूप से कृषि किसान के उस संतोष को खोखला कर देगी जो उसे अपने भाग्य के चयन करने की स्वतंत्रता से मिलता है। यदि उसका अधिकार सैद्धान्तिक रूप से उसकी इच्छानुसार अलग कर दिया जाए तो व्यवहार में प्रायः यह पाया जाएगा कि अधिकार छोड़ने वाले व्यक्ति को अपनी ज़मीन वापिस नहीं मिल सकती और यदि उसे वह जमीन दिलाई गई तो दलगत हित को हानि पहुंचेगी अतः उसे

समान रूप से मिलने वाली राशि पर ही संतोष करना होगा।

मानवीय प्रकृति ऐसी है कि एक मां से पैदा होने वाले भाई भी एक दूसरे से प्रायः अलग-अलग हो जाते हैं, जब परिवार का प्रमुख या तो मर जाता है अथवा अन्य किसी कारण से अलग हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में यह आशा करना केवल स्वप्न ही है कि एक साधारण परिवार का सदस्य एकाएक अपने हितों को गांव अथवा पड़ोस के उन सैकड़ों और हजारों हितों के साथ जोड़ दे जो उसके जीवन में अभी तक नितांत अजनबी रहे हैं। सहकारी खेती के अन्तर्गत अंधाधुन्ध तरीके से वे सभी व्यक्ति शामिल हो जाते हैं जो संबंध अथवा सामाजिक स्तर पर दीर्घकाल से कभी न जुड़े हों—हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और हरिजन, मालिक, किरायेदार और मजदूर, किसान और ऐसे गैर-किसान। क्या मनुष्य उस ऊंचाई पर पहुंच सकता है जहां वह अपने लाभ को अन्य मनुष्यों के लाभ में देखे। ऐसी स्थिति में वह परिवार का सदस्य उसी दिन न रह पाएगा। उसके लिए परिवार के बंधन, भाषा, धर्म और देश का कोई भी अर्थ न होगा और यदि ऐसी आदर्शपूर्ण परिस्थितियां बन जाती हैं तो योजना की आवश्यकता न होगी, आर्थिक नियम बेकार हो जाएंगे और वस्तुतः सरकार स्वयं भी एक महंगी सुविधा होगी। मां अपने बच्चे को पालने में तभी समर्थ होती है जबकि वह स्वार्थी होती है और अपने बच्चे में अपनी आत्मा देखती है। क्या गांव का हरेक बच्चा अथवा इस विस्तृत संसार के बच्चे उसकी आंखों में वही स्थान पाएंगे जैसा कि उसका अपना ही बच्चा स्थान पाता है? यदि ऐसी मां को यह पद्धति स्वीकार करनी हुई तो वह संन्यासिनी हो जाएगी। हमारे अपने जीवन में सहस्राब्दियों के लिए हमारा उत्साह भले ही क्यों न हो फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य पूर्णतया विवेकी व्यक्ति ही नहीं है। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से अधिक काम करता है और अभी तक हृदय ऐसा नहीं बना है (चाहे वह ऐसा बन भी जाए फिर भी यह स्थिति संदेहात्मक है), हृदय ने अभी तक इतनी उन्नति नहीं की है जितना मस्तिष्क ने भौतिक स्थान को कम कर दिया है और संसार को अपेक्षाकृत छोटा बना दिया है जैसाकि हमारे पुरखों के जमाने में नहीं था। वैज्ञानिक प्रगति अथवा बाह्य संसार पर नियंत्रण करने वाली प्रगति ने व्यक्ति के आन्तरिक संसार पर अपेक्षाकृत अधिक नियंत्रण करने में सफलता नहीं पायी है जिसके बिना एक विशाल संयुक्त आर्थिक कारोबार सुविधा अथवा सफलता से नहीं चलाया जा सकता। मनुष्य स्वार्थी अथवा लालची, घमंडी अथवा ईर्ष्यालु और महत्त्वाकांक्षी है जैसा कि वह वस्तुतः महाभारत काल से था और जैसा पहले कभी था।

यहां तक कि आकस्मिक परिस्थितियों, यथा—हमारे देश में विभाजन से उत्पन्न शरणार्थी समस्या उठी अथवा ऐसी ही विशेष स्थिति पैलस्टाईन (जो अब इजराइल कहलाता है) में सियोन लोगों के पुनर्वासन की आवश्यकताओं के संबंध में उत्पन्न हुई थी, के कारण सहकारी फार्म का अस्तित्व हो जाता है; किसी ऐसे संयुक्त कार्य में शक्तियां केन्द्रित हो जाती हैं जो अपने सदस्यों (जैसाकि सहकारी फार्म में होता है) के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को समेट लेता है, यह सभी शक्तियां इतनी सशक्त होती

हैं कि यदि वस्तुतः कोई स्वैच्छिक संगठन है तो उसका शीघ्र ही विखंडन हो जाएगा, जैसा कि भारत और इज़राइल में अनेक सहकारी फार्म पहले ही टूट चुके हैं अथवा उन्होंने टूटना शुरू कर दिया है।

यूजीन ल्यौन्स ने अपनी कृति 'वर्कर्स पैराडाइज़ लौस्ट' में यह कहा है कि "रूस के सभी अभिनव परिवर्तनों में से सामूहिक कृषि एक ऐसा कार्य है जिसके लिए जनता ने अधिकांश भुगतान करके सबसे कम प्राप्त किया है।" (पृष्ठ 202) स्टालिन ने स्वयं चर्चिल से कहा था कि सामूहिक कृषि ने अपेक्षाकृत अधिक रूसियों के प्राण लिए हैं, जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध में उतने लोग नहीं मारे गए) उनका यह निर्णय था कि भूमि का समाजीकरण कर दिया जाए और किसानों को राज्य सरकार द्वारा नियंत्रित सर्वहारा बना दिया जाए, जिससे सर्वत्र ऐसी अवज्ञा फैल गई जिसके परिणामस्वरूप तभी से कृषि संबंधी प्रगति में बाधा पड़ी है। आश्वासन भरी नयी व्यवस्था के लिए सामूहिक कृषि का कितना ही गुणगान क्यों न किया जाए, फिर भी इस तथ्य के बदलने में कोई भी सफलता नहीं मिली है कि आश्वासन पूरे नहीं हो सके हैं अपितु वे घोर निराशाओं से भरपूर रहे हैं।

कृषि मजदूरों को औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाले मज़दूरों के समान अंततः गारंटी देने और उन्हें न्यूनतम मजदूरी देने और उनके लिए आधारभूत सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने, सातवें दशक के प्रथम पांच वर्षों में कृषि निवेशों में भी 17% की वृद्धि करने, 8वें दशक की इसी अवधि में वार्षिक रूसी बजट के 1/4 से (1975-77 में 31 प्रतिशत) अधिक होने, इन सब के बावजूद ग्रामीण क्षेत्र ने राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दुःखद अरुचि दिखाई है। किसान अपने सामूहिक फार्मों के हित में यथासंभव बहुत ही कम समय दे पाते हैं। देहातों में योग्यता प्राप्त ड्राइवर और मैकेनिक इस बात के लिए चिंतित रहते हैं कि उन्हें शहरों में नौकरियां मिलें। रूस सरकार के आंकड़ों के अनुसार यूक्रेन राष्ट्रीय खत्ती है जहां एक किसान अपने सामूहिक फार्म पर प्रतिवर्ष औसतन 180 दिन काम करता है और जॉर्जिया में एक किसान अच्छे मौसम के दौरान केवल 135 दिन काम करता है। बाकी समय वह अपने निजी प्लाट पर ही देता है। राजकीय और सामूहिक फार्मों के प्रति किसानों की इसी प्रकार की उदासीनता है। कभी-कभी वे अकर्मण्य होकर अपने काम में बाधा डालते हैं और यही मुख्य कारण रूस की कृषि की असफलता का है।

मास्को पत्रिका 'प्रॉबलम्स आफ़ इकनॉमिक्स' (अर्थशास्त्र की समस्याएं) में उदाहरणार्थ यह कहा गया है कि 1975 में यदि उपलब्ध ट्रैक्टरों को बेकार खड़े रखने की बजाय उपयुक्त ढंग से प्रयोग किया जाता तो देश को प्रति वर्ष 200 लाख टन अधिक अनाज मिल जाता जो साधारण उत्पादन का दस प्रतिशत है। रूस के अन्य अखबारों और पत्रिकाओं में कई रिपोर्टें छापी गई हैं जिनमें हजारों ट्रैक्टरों, हारवैस्टर कम्बाइन्स और ट्रकों के फालतू पुर्जे और उपयुक्त ढंग से सफाई आदि न हो सकने के कारण, उस समय खड़े रहने की बात कही गई है जब बोने और कटाई का कठिन समय होता है। उन रिपोर्टों में यह भी बताया गया है कि खेतों में बहुत सी साग-सब्जियां

सड़ने के लिए छोड़ दी जाती हैं और पर्याप्त भंडारण के अभाव में लाखों टन अनाज खुले में ही नष्ट होने के लिए छूट जाता है।

एडवर्ड हग्ज़ ने 'रीडर्स डाइजेस्ट' जून, 1973 के अंक के एक लेख में यह बताया है कि "रूस की समाजीकृत कृषि की नीरस तसवीर के बड़े आयाम में केवल एक ही उज्ज्वल स्थान है जिसमें सोवियत भूमि पर निजी उद्यम की उपलब्धि दिखाई गई है। यह अवशिष्ट भाग छोटे-छोटे निजी भूमि के टुकड़ों से मिलते हैं। ये छोटे-छोटे भूमि के टुकड़े एक हेक्टेयर से भी कम हैं जिन पर उन किसानों को स्वामी बनने और खेती करने की अनुमति दी गई है, जो राज्य और सामूहिक फार्मों में काम करते हैं। इन छोटे-छोटे खेतों में किसान अपने तरीके से हल चलाते हैं और खेती करते हैं तथा वे स्वयं ही या तो लाभ उठाते हैं या नुकसान से पीड़ित होते हैं (स्टालिन ने स्वयं किसानों को इन छोटे-छोटे खेतों को रखने की अनुमति इसलिए दी थी कि वे न पसंद किए जाने वाले सामूहिक फार्मों में काम करने के लिए प्रेरित किए जा सकें)।

"आज इन निजी प्लाटों में खेती की जाने वाली भूमि का केवल 3 प्रतिशत भाग है। यद्यपि वे इस सार्वजनिक सेक्टर या पशुओं के चारे के लिए निर्भर रहते हैं फिर भी वे रूस के कुल फार्म उत्पादन का $\frac{1}{4}$ भाग प्रदान करते हैं। वे लगभग $\frac{2}{3}$ भाग आलू उत्पन्न करते हैं और $\frac{1}{2}$ भाग अंडे पैदा करते हैं और $\frac{1}{3}$ भाग मांस और दूध उपलब्ध कराते हैं।"

यदि इस बात का अध्ययन किया जाए कि जापान और पश्चिम यूरोपीय देशों में प्रति एकड़ उत्पादन क्या होगा जहां निजी कृषि करना ही मुख्य नमूना है तो हमें यह विदित होगा कि उस चीन और रूस की अपेक्षा वहां अधिक उत्पादन है जहां नियमानुसार बड़े-बड़े कम्यून, राजकीय फार्म और सामूहिक फार्म बनाए गए हैं। अमरीका का एक किसान 75 लोगों को भोजन प्रदान करता है। इसकी तुलना में रूस में जहां मुख्यतया कृषि प्रणाली अपेक्षाकृत कम क्षमता वाली है, एक किसान केवल 10 व्यक्तियों को भोजन दे पाता है।

कुल मिलाकर यह कृषि प्रणाली क्षमता से काम नहीं कर पायी है और तब तक इस प्रणाली में अधिक अच्छे ढंग से काम करने की कोई संभावना नहीं है जब तक कि निजी रूप से फार्मों पर काम करने के प्रोत्साहन को पुनः प्रदान न किया जाए। ऐसे ही प्रोत्साहन पर बहुत कुछ निर्भर है। किसानों को आवंटित किए गए निजी प्लाटों का उत्पादन राजकीय फार्मों और सामूहिक फार्मों के उत्पादन की अपेक्षा कहीं अधिक हो जाता है। यदि आज किसी कोलखोज़नीक (कोलखोज़ अथवा सामूहिक फार्म का सदस्य) को चयन करने का अवसर दिया जाय तो वह शीघ्र ही अपनी निजी जोत को चुनना पसंद करेगा। उसकी यह प्रवृत्ति अथवा इच्छा ही है कि कम्युनिस्ट भी व्यक्तिवाद को विष समझने लगे हैं। यह व्यक्तिवाद सम्पत्ति के प्रति अदम्य सम्प्रदाय है जिसके लिए वे उस किसान को समाप्त करना चाहते हैं।

एक बार ख्रुशचेव ने रूस के उत्पादन के प्रति स्वाभिमान दिखाते हुए अमरीका का यह कहकर उपहास किया कि "हम (अपने उत्पादन में) आपको दफना देंगे।" लेकिन साम्यवाद के छह दशकों के बाद इस विशाल कृषि राष्ट्र को, जो पहले कभी यूरोप की अनाज की खत्ती था, खाद्यान्न के भारी अभाव का सामना करना पड़ा है।

1972 में मास्को ने फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रेलिया और कनाडा से लगभग 912.5 करोड़ रुपए और अमरीका से 547.5 करोड़ रुपए के मूल्य के अनाज का समझौता किया। अमरीकी फसल के कुल $\frac{1}{4}$ भाग का सौदा इतिहास में एक ही वस्तु का सबसे बड़ा व्यापार है। 1972-73 में 200 लाख टन और 1973-74 में लगभग 150 लाख टन वजन का अनाज आयात किया गया। इसमें से कुछ अनाज उधार लिया गया लेकिन इसके अधिकांश भाग के लिए नकद राशि चुकानी पड़ी।

6 रूसी वैज्ञानिकों, इतिहासकारों और परिवहन विशेषज्ञों के दल के नेता डॉ० एस पैवलोव दो सप्ताह की भारत यात्रा पर आए। उन्होंने 22 मार्च, 1973 को नई दिल्ली के समाचार सम्मेलन में यह बताया कि रूस ने अनाज की कमी का सामना नहीं किया है। प्रति वर्ष 200 से 250 किलोग्राम प्रति व्यक्ति खपत की तुलना में रूस प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति लगभग 700 किलोग्राम अनाज उत्पन्न कर लेता है।

इस दल ने संवाददाताओं को यह भी बताया कि रूस ने अन्य देशों से जो भी अनाज आयात किया है उसका कारण यह है कि रूस ने समाजवादी देशों को दिए गए वचन को निभाया है।

यह समाजीकृत कृषि की असफलता को छिपाने का निर्लज्ज प्रयास था। शीघ्र ही इसका भंड़ाफोड़ हो गया। जून, 1973 में ब्रेझनेव-निकसन के मध्य अंतिम समझौता हुआ जिसकी शर्त यह थी कि "कृषि की सूचना का विनिमय, विशेषकर रूस की फसलों के अनुमान बताए जाएं ताकि अमरीकी और अन्य पश्चिमी किसान इसकी संभावित मांगों को पूरा करने के लिए अग्रिम रूप से अपनी योजना बना सकें।"

अक्टूबर 1974 में अमरीका ने यह घोषणा की कि रूस को आगामी ग्रीष्मकाल (1974-75) में 4,500 लाख डालर के मूल्य का 22 लाख टन अमरीकी खाद्यान्न खरीदने की अनुमति होगी। यह घोषणा 2 सप्ताह बाद उस समय की गई जबकि इससे पूर्व गुप्त रूप से काफी अनाज का सौदा किया गया था और इस सौदे को राष्ट्रपति फोर्ड के आदेशों से रद्द कर दिया गया था। अप्रैल, 1976 तक रूस ने अमरीका से कृषि-वर्ष 1975-76 के दौरान 165 लाख टन खाद्यान्न खरीदा।

रूस ने 20 अक्टूबर, 1975 को अमरीका के साथ एक करार किया जिसके अन्तर्गत वह अक्टूबर 1976 से अक्टूबर 1981 तक कम से कम 160 लाख टन गेहूं और मक्का खरीदने के लिए वचनबद्ध था। इस करार के अन्तर्गत रूस अपनी इच्छा से 80 लाख टन अनाज खरीद सकता था और यदि इससे अधिक अनाज खरीदने की आवश्यकता होती तो उसे सबसे पहले अमरीकी अधिकारियों से परामर्श करना आवश्यक था। इस संबंध में 'हिन्दुस्तान टाइम्स', में 9 अगस्त, 1980 को प्रकाशित समाचार पाठक के लिए रुचिकर हो सकता है:

अनाज के सौदे के संबंध में अमरीका और रूस की बातचीत :

पेरिस, 8 अगस्त—अमरीका और रूस के विशेषज्ञ उस समय के बाद आज पहली बार रूस को अमरीकी अनाज की बिक्री पर बातचीत करने के लिए यहां एकत्र हुए हैं जब रूस ने अफगानिस्तान में दखलनदाज़ी की थी और उसके विरोध में अमरीका ने अनाज का व्यापार रोक दिया था।

यह बैठक दोनों ओर से पंचवर्षीय अनाज के करार के संदर्भ में आयोजित की गई थी और इसकी अवधि अगले वर्ष 30 सितम्बर को समाप्त हो जाती है। यह बैठक गुप्त रूप से की गई।

रूसी दूतावास ने इसके संबंध में अपना वक्तव्य देने से यह कहकर इन्कार कर दिया है कि उनके पास विवरण नहीं हैं।

भारत का जनजीवन अधिकांश गांव में है लेकिन इस देश के बुद्धिजीवी नगरों में पैदा हुए हैं जो देश की राजनीतिक और प्रशासकीय नीति पर हावी हैं। वे ग्रामीण समस्याओं—ग्रामीणों की आवश्यकताओं, अभावों, प्रवृत्तियों और मनोविज्ञान को भली भांति नहीं समझते। वे प्रायः पूर्वाग्रह से ग्रामीण समस्याओं का समाधान खोजते हैं उनका यह पूर्वाग्रह उस ग्रामीण जन-जीवन के गैर-भौतिक कारणों की अवहेलना कर देता है जिसकी पहचान करना कठिन है लेकिन जिसे कोई व्यक्ति अपनी मां के दूध के साथ ही आत्मसात कर लेता है। उनके ज्ञान का आधार विदेशी लेखकों द्वारा लिखी गई पुस्तकों का अध्ययन ही है। हमारे नगर के जनजीवन में पले नेताओं ने कई अध-कचरी योजनाएं प्रारंभ की हैं या ऐसी योजनाओं का समर्थन किया है जो उन्हीं निष्कर्षों से स्पष्टतया प्रभावित हुई हैं जो उन लेखकों ने निकाले हैं और इन योजनाओं पर उस वातावरण का भी प्रभाव है जिसमें कि उन्होंने जन्म लिया है। सहकारी कृषि भी एक ऐसी ही योजना है जो असफल हो चुकी है और कभी भी सफल नहीं होगी।[2]

जैसी कि आशा की जाती थी, हमारे राष्ट्र का समय, शक्ति और धन काफी बर्बाद हो जाने के बाद योजना आयोग ने अंततः सहकारी कृषि का विचार बिल्कुल त्याग ही दिया इसलिए चौथी योजना में सहकारी कृषि के लिए इस प्रकार कहा गया :

> "इस दृष्टिकोण के लिए प्रेरणा और संगठन की समस्याओं का समाधान किसी भी उल्लेखनीय मापदंड के अनुसार सफलता से नहीं हुआ है। इसके अलावा इस विचारधारा को देश के किसी भी बड़े दल अथवा जनसमूह ने सक्रिय रूप से आगे नहीं बढ़ाया है इसलिए वर्तमान सहकारी कृषि के प्रोत्साहन की योजनाओं को चलाते रहने के सिवाय यह संभव नहीं है कि इस पंचवर्षीय योजना में अतिरिक्त कार्यक्रमों को सुझाया जाए।" (पृष्ठ 22)

2. इस विषय पर अधिक स्पष्ट रूप से विचार करने के लिए देखें, लेखक की पुस्तक 'इंडियन पावर्टी एंड इट्स सॉल्यूशन', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई 1964.

वास्तव में, पं० नेहरू ने स्वयं ही नागपुर सत्र के 15 महीने से कम ही समय में सहकारी खेती जैसे संभाव्य प्रस्ताव को छोड़ दिया था। उन्होंने 27 मार्च, 1960 को कलकत्ता में आयोजित अखिल भारतीय वाणिज्य और व्यापार चैंबर में भाषण देते हुए यह कहा कि "क्या संयुक्त कृषि की जानी चाहिए ? मैं स्वीकार करता हूं कि यह विवादास्पद प्रश्न है, इसलिए हमने यह कहा है कि यह एक ऐसी बात है जो हम आदर्श रूप से स्वीकार करते हैं लेकिन इसका कार्यान्वयन कई परिस्थितियों पर आश्रित है। इनमें से सबसे पहली बात तो यह है कि इस पर जनता की सहमति होनी चाहिए। इसके अलावा कुछ ही दशाओं में यह संभाव्य है और कुछ अन्य दशाओं में यह संभाव्य नहीं है। इस समस्या का निराकरण करने के लिए न तो कोई दबाव है और न कोई दृढ़ दृष्टिकोण है।"

इस संबंध में 'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली ने दूसरे ही दिन जो वक्तव्य दिया वह इस प्रकार है :

> "श्री नेहरू ने अभी हाल ही में संयुक्त कृषि के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं वे विचार इस विषय पर उनके पूर्व विचारों से भिन्न हैं। एक आदर्श नियम नहीं हो पाता और पूर्ण रूप से दृढ़ता से लागू भी नहीं किया जा सकता, वास्तव में वैसा नहीं है जो स्थिर समय-सूची के अनुसार कार्यान्वयन के लिए पूर्व निश्चित कार्यक्रम था। किसान की खेती तो अन्ततः बनी रहेगी और सेवा सहकारी संस्थाओं के संबंध में यह कहा जा सकता है कि नागपुर सत्र के आधार पर इस बात में आलोचकों को भी कोई आपत्ति नहीं थी।"

फिर भी ऐसा होता है कि किसान न तो विश्राम कर सकता है और न अपने खेत को पड़ा रहने दे सकता है। उसे उस समय तक बराबर कष्ट ही दिया जाता रहेगा जब तक कि देश में 'समाजवादियों' को सत्ता न मिल सके। लगभग 15 वर्ष बाद अर्थात् 1972-73 में तथाकथित कांग्रेस पार्टी के क्रांतिकारियों अथवा वामपंथियों ने फिर सहकारी कृषि के समर्थन में अपनी आवाज़ उठाई। कांग्रेस कार्यकर्त्ता और साम्य-वादी विचारधारा के लोग सत्ता में रहकर अस्पष्ट रूप से किसी न किसी प्रकार से संयुक्त या सहकारी कृषि के संबंध में अपनी बात कहते रहे थे।

स्पष्टतया ऐसा लगता है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने यह सोचा कि जहां उनके पिता को असफलता मिली थी वहां उन्हें उसमें सफलता मिल सकती है। फिर भी, जैसाकि पहले हो चुका है उसी प्रकार वास्तविकताओं को ओझल करते हुए ये आवाज़ें और प्रयत्न भी गर्त में समा गए। लेकिन बहुमूल्य समय नष्ट कर दिया गया था और देश की परिस्थितियां और खराब हो गई थीं। 1973 में केरल राज्य में सी० पी० आई० के नेतृत्व में बनी सरकार ने एक सामूहिक फार्म की स्थापना की जो सात वर्षों में ही लड़खड़ा गया और अन्ततोगत्वा उसे समाप्त भी करना पड़ा। इसके संबंध में समाचार इस प्रकार है :

त्रिवेन्द्रम, 7 मई—केरल सरकार में अन्ततः यह निर्णय कर लिया है कि

इलीथैंड स्थित सहकारी फार्म-प्रयोग को त्याग दिया जाए और वह जमीन 246 कामगारों के परिवारों में वितरित कर दी जाए।

आज मुख्य मंत्री श्री ई० नायनार ने यह घोषणा की है कि पूरी जमीन जिसमें 38 एकड़ नारियल का बाग भी शामिल है, कामगारों में वितरित कर दी जाएगी। 246 परिवारों में से प्रत्येक परिवार को कम से कम एक हेक्टेयर जमीन मिल जाएगी। (देखिए 'द इंडियन एक्सप्रैस', मई, 1980).

सामूहिक फार्मों की यही गतिविधि है : राजकीय फार्मों की प्रणाली तो और भी बुरी साबित होगी। भारतीय परिस्थितियों में भूमि-प्रणाली के चार उद्देश्यों में से पहले और दूसरे उद्देश्यों का संबंध बढ़ते हुए उत्पादन और बढ़ते हुए रोजगार से है और तीसरे उद्देश्य का संबंध लोकतंत्रीय वातावरण की उन्नति से है। ये तीनों उद्देश्य पूरे नहीं हो सके हैं : न तो राजकीय फार्म अधिक अन्न उपजा सका है और न अधिक लोगों को काम पर लगा सका है और न ही अपनी ही भूमि वाली वैयक्तिक स्वतंत्रता को फैला सका है। चौथे उद्देश्य का संबंध आय की भारी असमानताओं को रोकना है अलबत्ता जिसकी सफलता का प्रश्न ही नहीं उठता : जो कोई भी राजकीय फार्म पर कार्य कर रहा है वह राज्य का मजदूरी पाने वाला कामगार या नौकर होगा।

किसान-स्वामित्व

अब प्रश्न यह उठता है कि बड़े और छोटे निजी फार्म के बीच में किसे चुना जाए ? इसका उत्तर लगभग पूर्णतया इस बात पर आधारित है कि उत्पादन के दो अन्य कारकों अर्थात्, श्रम और पूंजी की तुलना में किस अनुपात में सबसे सशक्त कारक के रूप में भूमि उपलब्ध है।

आज हमारे देश में सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, उत्पादन के लिए, जो भूमि-क्षेत्र उपलब्ध है वह निर्धारित है। भूमि-सुधार और उपनिवेशन से कृषि के विस्तार की संभावना बहुत कम है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भूमि अपेक्षाकृत बहुत कम है और सीमित कारक बन पाती है। इसके विपरीत, हमारी अधिक और बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण श्रमिकों की सप्लाई असीमित है। पूंजी का वह अंश जो आज अधिकांशतया संकर्षण शक्ति उपलब्ध कराती है अर्थात् भारवाही पशु भी कम हैं। फिर भी इसे बिना किसी कठिनाई के उन्नत औजारों या छोटी मशीनों द्वारा बदला जा सकता है। इसलिए हमारा कृषि संगठन आवश्यकतानुसार ऐसा हो गया है कि वह अधिक से अधिक भूमि का उपयोग करता है और प्रति एकड़ अधिक से अधिक उत्पादन करता है चाहे यह स्थिति श्रमिकों और पूंजी के अधिकतम प्रयोग के अनुकूल न होती हो। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐसी अर्थव्यवस्था जहां हमें श्रमिकों अथवा पूंजी की अधिक यूनिटें भूमि पर लगानी हैं या दोनों को ही भूमि पर लगाना है ताकि भूमि का सबसे अधिक उपयोग हो सके अथवा ऐसी ही एक बात यह

है कि प्रति एकड़ अधिक उत्पादन किया जाए और यही स्थिति हमारे अनुकूल होगी।

दूसरी ओर अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया अथवा न्यूजीलैंड जैसे देशों में जहां जमीन सीमित कारक नहीं है और श्रमिकों की अपेक्षाकृत कमी है, वहां राष्ट्रीय हित में प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन की अपेक्षा प्रति कामगार अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना होगा। ऐसे देशों में अर्थव्यवस्था का स्वरूप यह हो सकता है कि बेकार ज़मीन की ओर ध्यान न दिया जाए।

डब्ल्यू० जे० इस्पिलमैन ने कहा है : "व्यापार से कुल मिलाकर सबसे बड़े लाभ में सीमित कारक की प्रति यूनिट का सबसे बड़ा लाभ निहित है। इस प्रकार यदि ज़मीन ही सीमित कारक है तो यह उद्देश्य होना चाहिए कि प्रति एकड़ सबसे अधिक लाभ हो। यदि श्रम से व्यापार सीमित होता है तो यह उद्देश्य होना चाहिए कि श्रम की प्रति यूनिट का यथासंभव सबसे अधिक लाभ हो। इसी प्रकार यदि साज-सामान का कारक सीमित हो तो यह उद्देश्य होना चाहिए कि साज-सामान की प्रति यूनिट का सबसे बड़ा लाभ हो।"[3]

हमारे देश में भूमि एक सीमित कारक है, इसलिए हमारा स्पष्टतया यह उद्देश्य होना चाहिए कि प्रति व्यक्ति या कृषि-कामगार यथासंभव अधिकाधिक उत्पादन न होकर प्रति एकड़ यथासंभव अधिकाधिक उत्पादन होना चाहिए। इस प्रकार भारत के लिए कुल मिलाकर सबसे अधिक उत्पादन मिलेगा और समूची गरीबी या सम्पत्ति का अभाव समाप्त होगा।

पूंजीवाद के समान ही मार्क्सवाद का सकारण उदय हुआ क्योंकि वहां हमारे देश की अपेक्षा परिस्थितियां बिल्कुल भिन्न थीं अर्थात् वहां अधिक ज़मीन थी और श्रमिकों का अभाव था। मार्क्सवाद ने सभी जगह यह पूछा है : वर्तमान भूमि से कम से कम श्रमिकों द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन कैसे हो सकता है। यह प्रश्न नितांत भिन्न है। प्रश्न इस बात का है कि हम वर्तमान भूमि में अधिकांश लोगों के जीवन-निर्वाह को गांव के श्रमिकों को अधिकाधिक काम पर लगातार किस प्रकार सुरक्षित रखें ? जिसका स्पष्ट उत्तर यह है कि हमारे यहां कृषि-स्वामित्व अथवा परिवार फार्म की पद्धति होनी चाहिए।

कुछ ही लोग यह सोचते हैं कि सौ एकड़ का एक ही फार्म दस-दस एकड़ के दस भू-खंडों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्पादन करेगा। इसका अर्थ यह है कि यदि भूमि पर ही विशेष बल दिया जाए तो प्रति एकड़ अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन होगा जबकि भूमि को छोटी-छोटी यूनिटों में विभाजित करके अथवा टुकड़े करके उतना उत्पादन नहीं हो सकता। जो लोग शहरों में रहते हैं उनके सामने बड़ी-बड़ी आर्थिक यूनिटें होती हैं और वे यूनिटें विनिर्माण उद्योग के क्षेत्र में सफलता से कार्य करती हैं। वे व्यक्ति यह भी तर्क देते हैं कि बड़े-बड़े पंजीकृत कारोबार कृषि के क्षेत्र में भी अधिक उत्पादन के लिए सक्षम हो सकते हैं। लेकिन यह तथ्य सही नहीं है। (एक छोटे वाक्यांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि चौथे दशक में बड़ी आर्थिक मंदी

3. 'ह्रासमान प्रतिफल नियम', पृ० 43

के कारण पश्चिम में भी उद्योग के क्षेत्र में बड़ी-बड़ी यूनिटों की क्षमता के बढ़ने का संदेह है ।)

प्रचालनों की बढ़ती हुई मात्रा के फलस्वरूप वस्तुएं तैयार करने वाला व्यक्ति श्रमिकों की प्रति यूनिट से बढ़ता हुआ उत्पादन प्राप्त करने की आशा कर सकता है अथवा यह आशा किसी अन्य आर्थिक संसाधन में लगे व्यक्तियों को भी हो सकती है; जबकि यह आशा एक किसान नहीं कर सकता । इन दोनों प्रकार के उद्योगों के बीच यही आधारभूत अन्तर है । इस तथ्य के विषय में वैन डेर पोस्ट ने बड़े अच्छे ढंग से कहा है, "वस्तुएं तैयार करने की प्रक्रिया यांत्रिक प्रक्रिया है जो एक ही मशीन से बार-बार एक ही प्रकार की वस्तुएं तैयार करती है । इसके विपरीत कृषि-प्रक्रिया एक जैविक प्रक्रिया है और जिसका उत्पादन मनुष्य द्वारा चलाए गए यंत्रीकरण से नहीं होता बल्कि उसकी वृद्धि के अपने आन्तरिक गुण हैं । इसलिए औद्योगिक वस्तुओं के मामले में मशीन के लिए एक स्थायी कमरा और उस मशीन के चालक का होना पर्याप्त है ताकि वस्तुओं का निर्माण अनन्त काल तक चलता रहे । परन्तु इसके विपरीत कृषि उत्पादन के लिए प्रत्येक वस्तु के निमित्त स्थायी जगह होनी चाहिए जहां उस वस्तु का उत्पादन किया जाना है ।[4]

एक पौधे को बढ़ने के लिए उतना ही स्थान और परिपक्व होने के लिए उतना ही समय चाहिए, चाहे उसे किसी छोटे खेत में उगाया जाए या बड़े खेत में । इसलिए किसी भी बड़े फार्म में छोटे फार्म की अपेक्षा प्रति एकड़ उत्पादन में कोई लाभ नहीं है । जबकि 18वीं शताब्दी में भाप के इंजन के उद्भव से कई सौ गुना, यहां तक कि मनुष्य की क्षमता की अपेक्षा दिए गए समय और जगह में बनाई गई वस्तुओं की 200 गुनी क्षमता तक बढ़ गई लेकिन इससे कुछ भी नहीं हुआ और कृषि क्षेत्र में ऐसा कुछ भी नहीं हो सका है क्योंकि कृषि एक जैविक प्रक्रिया है । कृषि उत्पादनों के लिए सबसे महत्वपूर्ण परिस्थितियों अर्थात् भूमि-क्षेत्र, मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरता और जलवायु संबंधी दशाओं पर यंत्रीकृत साज-सामान से विजय प्राप्त नहीं की जा सकती । यंत्रीकृत प्रक्रिया में हस्तचालित शक्ति का भापचालित शक्ति में परिवर्तन करके एक कारोबार के आकार और उसके उत्पादन के मध्य एक नया संबंध स्थापित किया जाता है । लेकिन इससे पौधों की जीवन-प्रक्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ सका है तथा आवश्यक रूप से कृषि-फार्म के आकार और उसके उत्पादन के मध्य ज्यों का त्यों संबंध था और रहा है जो उस समय तक अप्रभावित ही रहेगा जब तक कि कोई तरीका या मशीन न निकाल ली जाए जिसके द्वारा प्राकृतिक सगर्भता और वृद्धि की प्रक्रिया में तीव्रता लाई जा सके और यह स्थिति केवल बड़े फार्म पर ही उपयोग में लाई जा सके और इस प्रक्रिया से छोटे खेत प्रभावित न हों । यह ठीक ही कहा है कि वह एक औद्योगिक क्रांति थी, 'कृषि-क्रांति' नहीं थी ।

यदि बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा कृषि-उत्पादन बढ़ पाता तो अमरीका और रूस

4. 'द इकनॉमिक्स ऑफ एग्रीकल्चर', पृष्ठ 62.

में प्रति एकड़ भूमि में कहीं अधिक उत्पादन होता जहां फार्मों में बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग किया गया है और इनका उत्पादन पश्चिमी यूरोप और जापान की अपेक्षा कहीं अधिक होता जहां बहुत कम मशीनों का उपयोग किया जाता है। लेकिन हम तालिका 38 में इससे भिन्न स्थिति देखते हैं।

तालिका 38

1965 में कृषि-उत्पाद और उत्पादकता के तुलनात्मक स्तर

देश	कृषि में जोड़ा गया सकल मूल्य	कृषि क्षेत्र में काम पर लगे प्रति व्यक्ति के हिसाब से जोड़ा गया सकल मूल्य	कृषि क्षेत्र में लगे प्रति पुरुष के हिसाब से जोड़ा गया सकल मूल्य	कृषि योग्य भूमि के प्रति एकड़ में कृषि करने के लिए जोड़ा गया सकल मूल्य
	अमरीकी कीमतों के आधार पर दस लाख		अमरीकी कीमतों के आधार पर	
फ्रांस	5000	1573	2334	154
जर्मनी (जन० गण०)	2482	837	1821	160
इटली	4297	867	1268	203
जापान	5468	·451	948	523
इंगलैंड	2849	3223	3686	132
अमरीका	23587	5429	6678	50
रूस	21227	683	1411	32

स्रोत : अनगस मैडीसन : 'इकनॉमिक प्रोग्रेस इन जापान एंड यू० एस० एस० आर०', जार्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड, लंदन, 1969, पृष्ठ 65.

टिप्पणी : फ्रांस, इटली, इंगलैंड और जापान में 1970 में तथा अमरीका में 1969 में एक खेत का औसत आकार क्रमश: 22.07, 6.93, 55.07, 1,01 और 157.61 एकड़ था जबकि रूस में राज्य या सामूहिक फार्म का औसत आकार विश्व में सबसे अधिक माना जाता है। जो अमरीका से कई गुना है। (खाद्यान्न कृषि संगठन, प्रोडक्शन इयर बुक, 1975)।

यद्यपि जापान में खेती करने वाले परिवार के पास औसत कृषि योग्य जोत इन देशों की अपेक्षा सबसे कम है अर्थात् तीन एकड़ से भी कम है किन्तु यह देखा गया है कि जापान की भूमि के प्रति यूनिट का उत्पादन इंगलैंड की अपेक्षा चार गुना, अमरीका की अपेक्षा दस गुना और रूस की अपेक्षा सोलह गुना है। फ्रांस, इंगलैंड और अमरीका में प्रति श्रमिक यूनिट उत्पादन जापान की अपेक्षा कई गुना है किन्तु यह तथ्य असंगत है। कृषि प्रक्रियाओं के यंत्रीकरण से प्रति यूनिट श्रमिक उत्पादन

बहुत अधिक उन्नत हो जाता है लेकिन प्रति यूनिट भूमि का उत्पादन नहीं बढ़ पाता और यही कारण है जो अन्य कारणों की अपेक्षा भारत के लिए अधिक महत्वपूर्ण है।

डॉ० ई० एम० ओजाला ने कहा है, "सैद्धान्तिक रूप से वास्तविक उत्पादन की क्रमिक यूनिट के औद्योगिक उत्पादन की मात्रा वर्धमान प्रतिफल के प्रारंभिक दौर में बढ़ती है, स्थिर प्रतिफल के दौर में स्थिर होती है और ह्रासमान प्रतिफल के अंतिम दौर में घटने लगती है। किसी भी प्रकार का उत्पादन इन्हीं परिस्थितियों के सामान्य अनुक्रम के अन्तर्गत परिचालित होता है। वस्तुओं के तैयार करने में विशेष रूप से यह संभव है कि वर्धमान और स्थिर प्रतिफलों के दौर को बढ़ा दिया जाए और इस प्रकार ह्रासमान प्रतिफल के प्रारंभ में देर कर दी जाए। यह स्थिति उत्पादन के लिए प्रयोग किए जाने वाले उत्पादन के भिन्न-भिन्न कारकों तथा तत्संबंधी राशियों के बदलते रहने से होती है। लेकिन कृषि-उत्पादन में भूमि का कारक उद्योग की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह कृषि-भूमि-मात्रा और स्थान की दृष्टि से स्थायी होता है। यह परिस्थिति कृषि उत्पादन की संभावनाओं को सीमित कर देती है। ये संभावनाएं विभिन्न अनुपातों और अलग-अलग प्रकार के उत्पादों से संबंधित हैं ताकि ह्रासमान प्रतिफल के प्रारंभ होने में देर होती रहे। यह सीमाबद्धता इतनी शीघ्र और सतत प्रभावकारी होती है कि सामान्य रूप से यह कहना संभव है कि जब औद्योगिक उत्पादन में वर्धमान प्रतिफल या स्थिर प्रतिफल काफी समय तक चलता रहता है, तो कृषि में ह्रासमान प्रतिफल जल्दी होने लगता है। उद्योग की इन संभावनाओं की तुलना में कृषि में उत्पादन-अग्रता की दर पर इसका प्रभाव बहुत धीमा हो जाता है।[5]

कृषि भूमि के क्षेत्र पर निर्भर रहती है। उस भूमि का क्षेत्र ऐसा होना चाहिए कि पौधे अपनी जड़ों को जमीन के अन्दर फैला सकें और अपनी पत्तियों को धूप दिखा सकें और उनसे वे अपनी वृद्धि के लिए आवश्यक जल व रासायनिक पदार्थ ले सकें। इसलिए शर्त यह है कि यदि खेती करने के तरीकों में कोई अन्तर न हो और प्रति व्यक्ति लगाई गई पूंजी (जो भूमि की प्रत्येक यूनिट में पूंजी के समान एक जैसी ही होती है) भी बराबर हो तो सीमित क्षेत्र की भूमि के फार्म में अधिक लोग काम में लगाए जाने से प्रति व्यक्ति प्रतिफल कम हो जाएगा क्योंकि औसतन लोगों को काम करने लिए अपेक्षाकृत कम क्षेत्र मिल पाता है। इसके साथ ही साथ यदि अधिक व्यक्ति खेती करें तो प्रति एकड़ प्रतिफल बढ़ जाएगा क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र पर अपेक्षाकृत अधिक कामगार काम पर लगाए जाते हैं। यदि एक आदमी किसी खेत में काम करे और उसी खेत में दो आदमी काम करने लगें तो उन दोनों आदमियों के कारण उत्पादन एक आदमी के काम की तुलना में दुगुना नहीं हो सकता। यदि किसी खेत

5. 'एग्रीकल्चर एंड इकनॉमिक प्रोग्रेस', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, जोर्क कम्बरलैज, 1972, पृष्ठ 165.

पर दो व्यक्ति काम करें और उसी खेत पर तीन व्यक्ति काम करने लगें तो इन तीनों में से प्रति व्यक्ति का औसत उत्पादन उतना नहीं होगा जितना कि दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति का औसत उत्पादन है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक ही समान भूमि के क्षेत्र में खेती करने के लिए उत्तरोत्तर कामगार बढ़ाए जाएं तो उसका उत्पादन कामगारों की वृद्धि के अनुपात से नहीं बढ़ पाएगा और वास्तव में औसतन प्रति व्यक्ति उत्पादन ह्रासमान होता रहेगा और इसी को कृषि में 'ह्रासमान प्रतिफल नियम' कहा जाता है।

ह्रासमान प्रतिफल नियम, जो कृषि को नियंत्रित करता है, की विशिष्टता डॉ० एल्मेर पैंडेल के सुस्पष्ट शब्दों में इस प्रकार है : "ह्रासमान प्रतिफल के सिवाय विश्व, या एक देश या एक फार्म की भूमि का क्षेत्र उत्पादन की मात्रा से कोई संबंध नहीं रखेगा। ह्रासमान प्रतिफल के सिवाय, 20 एकड़ वाले फार्म में उतना ही उत्पादन होगा जितना 1,000 एकड़ वाले फार्म में होता है। यदि किसी भूमि पर पूंजी और श्रमिकों के अनुपात से अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त किया जा सके तो समान पूंजी और मजदूरों से अधिक एकड़ वाले बड़े फार्म में जितना उत्पादन हो सकता है, उतना ही उत्पादन उस पूंजी और मजदूरों से कम एकड़ वाले छोटे फार्म में भी हो सकता है।"[6]

जबकि शुद्ध सिद्धांत की दृष्टि से किसी फार्म का आकार प्रति एकड़ उत्पादन को प्रभावित नहीं करता तथापि वास्तविक व्यवहार में, जैसा कि सारांश से पहले ही कारण बताया गया है, संसाधन सुविधाएं, भूमि की उर्वरता और जलवायु की समानता हो, तो छोटे फार्म में एकड़, प्रति एकड़ उत्पादन बड़े फार्म की अपेक्षा अधिक होता है, चाहे बड़ा फार्म कितना ही संगठित क्यों न किया जाए और वह बड़ा क्षेत्र सहकारी, सामूहिक या पूंजी के आधार पर क्यों न चलाया जाए।

एक पौधा सजीव अवयव है। इस पौधे को उतनी ही व्यक्तिगत देखभाल और ध्यान की आवश्यकता है जितनी कि किसी पशु या मानव को होती है। उद्योग में एक कामगार 'कार्य' की दृष्टि से कुशल होता है चाहे वह उस काम में कितनी ही अरुचि रखे क्योंकि उद्योग का कार्य अधिक नियमित होता है और उसमें व्यक्ति की भावना नहीं जुड़ी होती तथा वह कार्य पंजीकृत होता है। लेकिन खेती करना एक नैमित्तिक कार्य नहीं है। भूमि का उत्पादन इस बात पर सीधे ही निर्भर करता है कि किसान अपनी भूमि का कितना संरक्षण करता है और फसल को कितना बचा पाता है। किसी भी फार्म के मालिक या प्रबंधक की शारीरिक या पर्यवेक्षण की क्षमता सीमित होती है—वह कितना ध्यान दे सकता है और कितनी प्रार्थना कर सकता है। जिस प्रकार कोई भी पुरुष या महिला दो दर्जन गायों या दो दर्जन बच्चों को संतोषजनक ढंग से नहीं देख सकती उसी प्रकार कोई भी किसान किसी भी निर्धारित क्षेत्र या सीमा की भूमि से परे दक्षता से फसलें नहीं उगा सकता।

6. 'पॉपुलेशन ऑन द लूज', न्यूयार्क, पृष्ठ 40.

किसी भी सहकारी या सामूहिक फार्म पर भी ऐसी देखभाल नहीं की जा सकती जहां किसी व्यक्ति विशेष को न तो उस भूमि या खेत का स्वामित्व प्राप्त है अथवा उसका दायित्व है। किसी भी सहकारी या सामूहिक उद्यम में कई कामगारों के बीच उत्तरदायित्व बंटा रहता है या उन सभी को मिलकर उत्तरदायी होना पड़ता है और यदि इस उद्यम के सभी सदस्य इसके संबंध में जुड़े हुए न हों अथवा किसी आदर्श से प्रेरित न हों जो मानवीय जीवन के आर्थिक क्षेत्र में विरल है, तो वे अन्ततोगत्वा ऐसे हो जाएंगे कि उनमें से किसी का कोई उत्तदरायित्व नहीं है और वे व्यक्तिगत हितचिंतन को स्वीकार नहीं कर पाते, जिसकी समीपी, लगातार और आन्तरिक ध्यान के लिए आवश्यकता होती है और जो भूमि और फसलों के लिए आवश्यक है।

यदि किसी आदमी के दो वयस्क पुत्र हैं और वे सभी मिलकर साथ रहते हैं तथा संयुक्त रूप से काम करते हैं, तो वे प्रति एकड़ अधिक उत्पादन कर लेंगे। अथवा जब वह अकेला था और उसके पास उतनी ही भूमि थी तो उसकी अपेक्षा तीनों मिलकर उसी भूमि-क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन कर लेंगे। इसी प्रकार यदि यह माना जाए कि उसके पांच पुत्र हैं और वे सभी परिवार के कल्याण अथवा हित-चिंतन में समान रूप से अभिप्रेरित हैं तो वे अपेक्षाकृत और भी अधिक उत्पादन कर लेंगे। यदि पिता के जीवनकाल अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर भाइयों में अविश्वास उत्पन्न हो जाए अथवा उनके विचारों में अन्तर पड़ जाए अथवा वे अपने बारे में अलग-अलग और अपनी पत्नी और बच्चों के बारे में भी अलग-अलग सोचने लगें और परिवार की समूची व्यवस्था से अलग हट जाएं, तो उनके उत्पादन में निश्चय ही कमी आ जाएगी। यदि अन्ततोगत्वा भाई अलग-अलग हो जाते हैं और इस प्रकार वे अलग-अलग कठोर परिश्रम करके सघन खेती करते हैं, तो प्रति एकड़ उत्पादन फिर बढ़ जाएगा और संभवतः यह उत्पादन उस उत्पादन की अपेक्षा अधिक होगा जब उनमें पारस्परिक विश्वास और सद्भाव विद्यमान था। यह अनुभव उन सभी व्यक्तियों का है जो किसान परिवार से आए हैं अथवा एक औसत किसान के मनोविज्ञान और उसकी आवश्यकताओं को जानते हैं।

इसके विपरीत यदि पांच व्यक्ति, जो अब तक अपनी जोतों पर अलग-अलग कार्य कर रहे थे, चाहे वे जोतें कितनी ही छोटी क्यों न थीं, मिल जाते हैं या उन्हें मिला दिया जाता है ताकि वे एक संयुक्त फार्म बना लें, तो फिर भी वे इस सम्मिलित रूप में प्रति एकड़ अधिक उत्पादन नहीं कर पाते। अधिक से अधिक यदि किसी फार्म के सदस्य किसी पारस्परिक हित से प्रेरित हों और अपनी सहानुभूतियों का उदारता से उपयोग कर सकें, तो उनके फार्म के बढ़े हुए क्षेत्र में उत्पादन संयुक्त फार्म के रूप में उतना ही होगा जितना कि पहले अपने-अपने फार्मों में वे कर पाते थे और जब उनके हितचिंतन विचार और सद्भावनाएं वैसी नहीं रहतीं, और यदि यह स्थिति किसी सरकार या राजनीतिक दल की प्रेरणा से संयुक्त फार्म का रूप ले लेती है, तो उत्पादन में उल्लेखनीय कमी होगी और यदि ऐसे किसानों की संख्या अधिक हो तो उनकी इच्छुक या उत्साही यूनिट के रूप में काम करने की संभावना बहुत कम होगी।

डॉ० ई० एम० ओजाला ने यह निष्कर्ष दिया है कि यद्यपि, प्रत्येक उद्योग के समान ही कृषि में वास्तविक निवेश के प्रति लगातार यूनिट का उत्पादन वर्धमान प्रतिफल के प्रारंभिक दौर में बढ़ता है जबकि अन्य उद्योगों से कहीं अलग कृषि उत्पादन में ह्रासमान प्रतिफल की तीव्रता परिलक्षित होती है, जैसा कि तालिका 39 में दिखाया गया है। देश के बन्दोबस्त के प्रारंभिक चरण में अथवा जब देश में खेती करने वाली जनसंख्या कम हो लेकिन कृषि योग्य भूमि अधिक उपलब्ध हो अथवा अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक फार्म का बड़ा क्षेत्रफल है अथवा हो सकता है अर्थात् एक सौ एकड़ हो सकता है, तो कामगारों की संख्या के बढ़ाने के साथ प्रति व्यक्ति उत्पादन भी बढ़ जाएगा जब तक कि प्रति व्यक्ति भूमि 33.3 और 25 एकड़ तक कम न हो जाए। इसके बाद यदि प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल कम होता है, तो प्रति व्यक्ति प्रतिफल भी कम होना शुरू हो जाता है, यद्यपि प्रति एकड़ प्रतिफल बढ़ना शुरू होता है, जैसाकि तालिका के क्रमशः स्तंभ 5 और 6 में दिखाया गया है।

तालिका 39

ह्रासमान प्रतिफल नियम का उदाहरण

भूमि पर काम कर रहे आदमियों की संख्या	भूमि के एकड़ जिसे कुल आदमी जोतते हैं	एक सौ एकड़ भूमि का कुल उत्पादन जो अनाज के बुशल में दिया गया है।	बुशल में अनाज का उत्पादन जिसका संबंध उस आदमी से है जिसके बारे में अब पहली बार विचार किया गया है।	बुशल में प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन	बुशल में प्रति एकड़ औसत उत्पादन
1	2	3	4	5	6
1.	100	200	200	200.00	2.00
2.	100	500	300	250.00	5.00
3.	100	900	400	300.00	9.00
4.	100	1250	350	312.50	12.50
5.	100	1540	290	308.00	15.40
6.	100	1780	240	296.67	17.80
7.	100	1980	200	282.85	19.80
8.	100	2150	170	268.75	21.50
9.	100	2300	150	255.55	23.00
10.	100	2440	140	244.00	24.40

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6
11.	100	2574	135	234.09	25.75
12.	100	2705	130	225.42	27.05
13.	100	2830	125	217.69	28.30
14.	100	2950	120	210.71	29.50
15.	100	3067	117	204.47	30.67
16.	100	3181	114	198.81	31.81
17.	100	3292	111	193.65	32.92
18.	100	3400	108	188.88	34.00

स्रोत : डॉ० एल्मेर पैंडेल : 'पॉपुलेशन ऑन द लूज', न्यूयार्क, 1951, पृष्ठ 37.

स्पष्टतया प्रति व्यक्ति अपेक्षाकृत कम उत्पादन होता है यदि 4 से अधिक आदमी 100 एकड़ भूमि पर काम करें। यदि कामगारों की संख्या अधिक हो जाती है, तो प्रति व्यक्ति उत्पादन अपेक्षाकृत कम हो जाता है। डॉ० एल्मेर पैंडेल का कहना है कि उन्होंने ऐसी भूमि का चयन किया जो बहुत अच्छी नहीं थी और वहां किसानों को औजारों से बहुत कम सहायता मिली। औजार भी प्रति व्यक्ति उत्पादन में कोई अंतर नहीं ला सके जबकि 18 व्यक्तियों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए 100 एकड़ भूमि पर ही आश्रित होना था। यदि किसी आदमी के पास अपेक्षाकृत कम भूमि होती है, तो उसे कृषि के उपकरण के उपयोग में भी अपेक्षाकृत कम लाभ होता है।

डॉ० एल्मेर पैंडेल के कथनानुसार :

"जैसे ही हम ह्रासमान प्रतिफल के साथ चलते हैं तब हम अन्ततोगत्वा अधिकतम जोड़ पर आ जाते हैं और अधिकतम प्रति एकड़ औसत उत्पादन पाते हैं। कुल उत्पादन इससे आगे नहीं होगा चाहे श्रमशक्ति को कितना ही बढ़ा दिया जाए और वास्तव में उत्पादन कम होता जाएगा—और कम होता जाएगा…

" यदि हम चीन की ओर देखें तो हमें इस पूरी समस्या के बारे में बहुमूल्य निष्कर्ष प्राप्त होता है।

" जॉन लॉसिंग बक ने 'लैंड यूटीलाइजेशन इन चाइना' नामक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस द्वारा 1937 में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में चीन के फार्मों का गहन अध्ययन करके परिणाम दिए गए हैं। हमने फार्मों के आकार की दृष्टि से उन्हें पांच ग्रुपों में वर्गीकृत किया है।

" उन्होंने अपनी पुस्तक के पृष्ठ 283 पर सरल ढंग से जो आंकड़े दिए हैं वे इस प्रकार हैं :

तालिका 40

चीन के खेतों का उत्पादन

फार्म ग्रुप	फसलें उगाए जाने वाले सौ एकड़ क्षेत्रफल के बराबर प्रति व्यक्ति श्रमशक्ति	प्रति व्यक्ति श्रम-शक्ति के बराबर फसल उगाए जाने वाले एकड़	प्रति व्यक्ति उत्पादन जो अनाज की समानता में आकलित किया जाए	प्रति एकड़ उत्पादन जो बुशल में अनाज की समानता में आकलित किया जाए
(क)	25.00	4.0	76.1	19.0
(ख)	31.25	3.2	62.0	19.4
(ग)	38.46	2.6	53.5	26.6
(घ)	47 62	2.1	43.1	20.5
(ङ)	66.67	1.5	30.6	20.4

" यहां हमें ह्रासमान प्रतिफल को दिखाते हुए उल्लेखनीय आंकड़े मिले हैं। यह स्थिति हमारी अन्य तालिका के समान ही है, सिवाय इसके कि इस तालिका में जीवन-निर्वाह के स्तर की स्थिति दिखाई गई है और प्रति एकड़ वास्तविक कम पैदावार दिखाई गई है। " (वही, पृष्ठ 57-58)।

जॉन लॉसिंग बक की ऊपर दी गई तालिका से यह विदित होगा कि यदि आदमी के पास 2.6 एकड़ से कम भूमि हो तो प्रति एकड़ उत्पादन कम हो जाता है। संभवतया, वह केवल एक अवसर के अनुसार न्यूनाधिकता अथवा कमी है जो (घ) और (ङ) वर्ग के चीन के फार्मों में दिखाई गई है, जैसा कि ऊपर दी गई तालिका में बताया गया है।

यह कमी इतनी नगण्य है कि इस आधार पर कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। अथवा यह जानना चाहिए कि छोटे आकार के फार्म किसान के मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं, जिससे कमी हो जाती है। कम से कम इसके लिए कोई यथार्थ कारण नहीं हो सकता। इसलिए हम डॉ० पैंडेल से सहमत नहीं हैं कि ऐसी स्थिति आ सकती है जहां यदि दिए हुए भूमि क्षेत्र में, श्रम-शक्ति को और अधिक बढ़ा दिया जाए तो कुल उत्पादन कम हो जाएगा और कम होता जाएगा। यह आसानी से कहा जा सकता है कि धरती मां एक सीमा के बाद या उससे परे पैदावार नहीं कर पाती चाहे आदमी उसे कितना ही उर्वर क्यों न बनाए, और चाहे उस भूमि में अतिरिक्त श्रमिक काम भी करते रहें फिर भी अतिरिक्त उत्पादन नहीं हो पाता। चीन के आंकड़ों के अनुसार ऐसी सीमा आ जाती है, जहां प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल कम होकर 2.6 और 2.1 एकड़ के मध्य बिंदु तक हो जाता है।

डॉ० एल्मेर पेंडेल ने जो परिणाम निकाले हैं, उनकी पुष्टि के लिए संसार भर से और आंकड़े प्रस्तुत किए जा सकते हैं, लेकिन इस कथन की पुष्टि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अन्य आंकड़े एकत्र किए जायं। भारत सरकार के कृषि मंत्रालय ने फार्म के प्रबंध के संबंध में अध्ययन कराए हैं जिनसे लगातार इसी प्रकार के परिणाम

मिले हैं। यद्यपि शुद्ध सिद्धांत की दृष्टि से फार्म का आकार प्रति एकड़ उत्पादन की तुलना में असंगत है, अर्थात् एक बड़े फार्म में प्रति एकड़ उतना ही उत्पादन होता है, जितना कि छोटे फार्म पर प्रति एकड़ उत्पादन होता है (इससे अधिक नहीं होता क्योंकि कृषि में अर्थव्यवस्थाओं के मापदंड नहीं हैं) फिर भी कृषि एक जीवंत प्रक्रिया है और वास्तविक व्यवहार में दी गई परिस्थितियों में प्रति एकड़ उत्पादन कम हो जाता है, यदि फार्म का आकार बढ़ाया जाए (अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे मानवीय श्रम और पर्यवेक्षण का उपयोग प्रति एकड़ कम होता जाता है)। इसलिए भारत में कई सार्वजनिक नेता और प्रशासक जो पहले बड़े-बड़े फार्म से अभिभूत थे, गत 30 वर्षों या इतनी ही अवधि में अनिच्छा से इस विचार का समर्थन कर उठे हैं कि एकड़, प्रति एकड़ वाले छोटे-छोटे फार्म में बड़े फार्मों के एकड़, प्रति एकड़ उत्पादन से अधिक उत्पादन होता है।

ऊपर दिए गए परिणाम व्यापक रूप से सही हैं : यदि छोटे फार्मों पर निवेश किया जाए तो उनका प्रति एकड़ उत्पादन बड़े-बड़े फार्मों के प्रति एकड़ उत्पादन की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार यदि अधिक जनसंख्या वाले और पूंजी-अभाव ग्रस्त देश भारत को अवसर दिया जाए कि 100 एकड़ वाले एक फार्म या 2.5 एकड़ वाले 40 फार्म में से किसे चुना जाए, तो यह मानना होगा कि यदि 40 छोटे-छोटे फार्मों को देश चुने तो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में पूंजी लागत अपेक्षाकृत कम होगी।

बढ़ते हुए उत्पादन की आवश्यकता के अलावा छोटे फार्म के पक्ष में दूसरा कारण भी है। भारत के सामने बेरोज़गारी की समस्या है। इसलिए राष्ट्रीय हित में कृषि अर्थव्यवस्था की मांग है। भूमि से अधिक से अधिक पैदावार की जानी है। हमारी परिस्थितियों में भूमि एक सीमित कारक है। यदि ऐसा किया गया तो हमारे ग्रामीण क्षेत्र के लोगों को अधिकतम रोजगार मिल सकेगा।

अधिकांशतया प्रबंध की आर्थिक व्यवस्था की विसंगतियों और मजदूरी देकर रखे गए अनेक बंधुआ मजदूरों की देखभाल की कठिनाई के कारण बड़ी-बड़ी जोतों में बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग होने लगता है जबकि छोटी-छोटी जोतों में मशीनों का उपयोग सीमित हो जाता है। अत: इन छोटी-छोटी जोतों में अधिकाधिक मजदूर काम पर लगाए जाते हैं।

मशीनों का उपयोग लाभदायक ढंग से उसी स्थिति में किया जा सकता है जब उन मजदूरों को कम किया जा सके जो अन्यत्र उत्पादन के लिए रोजगार पर लगाए जाते हैं और मशीनों का उपयोग उसी दशा में ठीक लगता है जब काम को मनुष्य के हाथों से नहीं कराया जा सकता अथवा ठीक प्रकार से काम न हो सके या उतनी शीघ्रता से पूरा न किया जा सके जबकि किसी विशेष समय के भीतर अधिकतम उत्पादन की आवश्यकता होती है। लेकिन हमारे ग्रामीण क्षेत्र में अधिकांश मजदूर पहले ही बेरोजगार हैं अथवा वे आज कम रोजगार पाते हैं। कृषि के क्षेत्र में कोई

ऐसा कार्य नहीं है जिसे मनुष्य अथवा पशु न कर सकें और हमारा देश छोटे-छोटे खेतों से भरा हुआ है। हमारे किसानों को अपने गांवों में ही सरलता से मजदूर मिल जाते हैं अथवा वे पड़ोसी गांव से मजदूर ले आते हैं, जिनकी आवश्यकता कितने ही बड़े फार्मों पर यथासंभव शीघ्रता के साथ काम को पूरा करने की हो।

तालिका 41 में यह दिखाया गया है कि यदि तुलना की दृष्टि से देखा जाए तो यह विदित होगा कि अलग-अलन देशों में अलग-अलग प्रकार की भूमि पर लगाए गए व्यक्तियों की संख्या अलग-अलग होती है। लीग के शीर्षस्थ स्थान पर माने जाने वाले देश जापान, दक्षिणी कोरिया, ताइवान और मिश्र में काफी जोर से भूमि सुधार किए गए हैं और उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इसी में उनके उच्च एवं सफल आर्थिक विकास की नींव है जबकि उनके यहां छोटे किसानों ने अपनी सफल भूमिका निभाई है। सबसे निचले स्थानों में वे देश हैं जहां यंत्रीकृत ढंग से खेती के फार्म हैं अथवा जहां उत्पादन का आधे भाग तक केवल किराए के रूप में जमींदार तथा बंटाई पर काम करने वाले व्यवस्थापक ले जाते हैं।

तालिका 41

1968 में विभिन्न देशों में प्रति 100 एकड़ भूमि में
काम पर लगे हुए कामगारों की संख्या

	देश	कामगारों की संख्या प्रति सौ एकड़ में
1.	जापान	87
2.	दक्षिणी कोरिया	79
3.	ताइवान	75
4.	मिस्र	71
5.	श्रीलंका	49
6.	भारत	36
7.	फिलीपीन	29
8.	यूगोस्लाविया	29
9.	कोलंबिया	20
10.	ब्राजील	17
11.	मेक्सिको	12
12.	इसराइल	11
13.	मोरक्को	10
14.	अमरीका	इससे कम 2

स्रोत : खाद्यान्न कृषि संगठन की उत्पादन इयर बुक, 1969 से ली गई तालिकाएं।

छोटे-छोटे फार्मों की प्रणाली में अधिक मजदूर ही काम पर नहीं लगाए जाते अपितु कृषि आय का भी समान रूप से वितरण किया जाता है। इसके कारण कृषीतर वस्तुओं की भी मांग को प्रोत्साहन मिलता है जिनके तैयार करने के लिए अपेक्षाकृत

अधिक मजदूरों की आवश्यकना होती है और इस प्रकार अधिक मजदूरों की सेवाओं का उपयोग किया जाता है अथवा उन्हें रोजगार दिया जाता है। उदाहरणार्थ, छोटे फार्म सरल कृषि उपकरण, यथा—जोतने वाली मशीनें, गाहने वाली मशीनें और बोने वाली मशीनें, छोटे पम्प और सिंचाई के लिए कुएं हैं जो छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योगो के रूप में तैयार किए जा सकते हैं। इन उद्योगों में भी अधिक मजदूरों की आवश्यकता होती है अथवा यह प्रणाली अधिक रोजगार देने वाली है।

यह कहना ठीक है जैसा कि कुछ लोगों ने विचार किया है कि खेती के यंत्रीकरण से कतिपय द्वितीयक और तृतीयक उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा और इस प्रकार कृषि-क्षेत्र से हटाए गए कुछ लोगों को रोजगार पाने में सहायता मिलेगी। लेकिन ऐसे देश में जहां ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या अधिक हो, जहां कृषि की वर्तमान तकनीक के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों के बेकार होने की समस्या हो, जहां संयुक्त परिवार पद्धति के अनुसार लोग बेरोजगार और कम रोजगार हो, जहां जनसंख्या की वृद्धि में ऊंची दर के कारण तेजी से श्रमिक-दल की वृद्धि हो रही हों और जहां श्रमिकों की मांग उद्योग अथवा कृषीतर क्षेत्रों में उन सभी लोगों को काम पर न लगा पाये जो आज उपलब्ध हैं वहां कृषि के यंत्रीकरण द्वारा मजदूरों को हटा देना अथवा पूरक रूप से मजदूरों की सप्लाई करते रहने का कोई औचित्य नहीं है।

योजना आयोग ने स्वयं यह कहा है कि "कृषि-क्षेत्र में कतिपय परिस्थितियों को छोड़कर विकास की वर्तमान स्थिति के अन्तर्गत यंत्रीकरण के संभाव्य आर्थिक लाभ कहीं अधिक हो सकते हैं, बजाय इसके कि बेरोजगारी की सामाजिक कीमत से प्रतिसाद हो सके, जैसाकि इस प्रकार के यंत्रीकरण में निहित है।" (दूसरी पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ 113)

महात्मा गांधी ने स्पष्ट रूप से देखा था कि भारत की मुख्य आर्थिक बीमारी श्रमिक दल की व्यापक बेकारी में निहित है। उन्होंने कहा, "यंत्रीकरण अच्छा है जब किए जाने वाले कार्य को पूरा करने के लिए मजदूर कम हों। यह अभिशाप है कि काम के लिए जितने मजदूरों की आवश्यकता हो, उससे अधिक मजदूर उपलब्ध हों जैसा कि भारत की स्थिति है : मैं स्वयं भूमि के कुछ ही वर्ग गज वाले टुकड़े पर हल नहीं जोतूंगा। हमारे सामने यह समस्या नहीं है कि हमारे गांवों में रहने वाले लाखों लोगों को आराम करने के लिए समय मिले। समस्या यह है कि उनके उस बेकार समय को किस प्रकार उपयोग में लाया जाय जो वर्ष में छह महीनों के कार्य करने वाले दिनो के बराबर हो जाता है।"[7]

7. 'मानव बनाम मशीन' (मैन वर्सेज मशीन), हरिजन, 16 नवम्बर, 1934, पृ० 316, जैसा कि आर० के० प्रभु और यू० आर० राव ने 'द माइंड ऑफ महात्मा गांधी' नामक पुस्तक के पृ० 122 पर उद्धृत किया है। यह पुस्तक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1945) से प्रकाशित हुई है।

महात्मा गांधी के विचार आज भी उतने ही सत्य हैं, जबकि 50 वर्ष पूर्व उन्होंने यह कहा था। यदि उस समय से कुछ भी हुआ है तो बेरोजगारी और कम रोजगारी ही बराबर बढ़ी है।

यंत्रीकरण के समर्थक यह भूल जाते हैं कि मशीनों को उचित रूप से उपयोग करने का यह अर्थ नहीं है कि काम को कम कर दिया जाय; मशीनों से जो कुछ भी किया जा सकता है वह नितांत भिन्न है—काम की कमी और नीरसता को कम करना। फिर भी, एक किसान अपना खुद मालिक होता है लेकिन उसका अपने फार्म पर काम करना मालिक होना नहीं है जैसा कि एक मजदूर अपनी फैक्टरी में काम करता है अथवा इस प्रकार का काम जिसे मशीन को समाप्त करना था। लेखक का इससे कोई विरोध नहीं है कि किसान सभी प्रकार की मशीनों को उपयोग में लाएं। यदि पशु-शक्ति के उपयोग को कम करने वाले अथवा किसानों के श्रम और कुशलता की आवश्यकता को दूर करने वाले औजार तथा मशीनों का उपयोग ठीक नहीं है तो ऐसे औजारों तथा मशीनों का उपयोग करना चाहिए जो उसकी स्वतंत्रता को कम न करें अथवा उसके फार्म को ही न मिटा दें बल्कि उसके कार्यभार को हल्का करते रहें और उसकी नीरसता को कम करते रहें तथा किसान की कार्यकुशलता और उत्पादकता को बढ़ाते रहें। इस स्थिति का स्वागत है। सभी कार्यों को करने वाले ट्रैक्टर के प्रति विरोध है। ट्रैक्टर स्वतंत्र खेती की बुनियाद को ही हिला देता है। ट्रैक्टर से ऐसी प्रतियोगिता का लाभ नहीं हो पाता जो बड़े बड़े किसान से अलग हट-कर छोटे फार्म के किसान को मिल जाता है। अर्थात् अपने परिवार के लोगों को काम पर लगातार सस्ते श्रमिक मिल जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, ऐसी कृषि-प्रणाली में जहां कामगार स्वयं अपने हल के साथ भूमि का स्वामी है। किसान का स्वामित्व एक समतावादी समाज को प्रोत्साहित करता है जिसके अन्तर्गत सम्पत्ति कहीं भी केन्द्रित नहीं हो सकती इसलिए सम्पत्ति और आय की असमानताओं में भारी अन्तर नहीं है।

अन्त में, किसान का धन्धा दो बैलों की जोड़ी से चल सकता है—चाहे काम करने का मौसम हो, अथवा काम करने का मौसम न हो अथवा अपने ही प्रकार की छोटी मशीन हो जिसमें किसी को आदेश देने की अथवा किसी से आदेश लेने की आवश्यकता न हो। इस प्रकार की पद्धति अपनाने से जनता ऐसी हो जाएगी कि उसका सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतंत्र दृष्टिकोण तथा कार्य होगा। इस प्रकार किसान का स्वामित्व लोकतंत्र के सबसे बड़े बचाव में उभरता है।

सारांश में, किसान के पास स्वामित्व की पद्धति से न केवल अधिक सम्पत्ति होती है, बल्कि अधिक रोजगार उपलब्ध हो जाते हैं और सम्पत्ति की स्पष्ट असमानताएं हट जाती हैं तथा यह लोकतंत्र का सबसे अधिक सुरक्षित आधार भी सिद्ध होता है।

यह सत्य है कि किसानों को कठोर परिश्रम करके अपनी जीविका कमानी है। केवल कुछ ही लोग हैं जो सम्पत्ति जमा कर पाते हैं। लेकिन चाहे वे रूढ़िवादी हों, वे प्रतिक्रियावादी नहीं हैं; चाहे वे निजी अर्थव्यवस्था के पक्ष में हैं, वे शोषक नहीं हैं।

इन सभी बातों को मात करने वाली स्थिति यह है : हमें जो लोकतंत्र मिला है उसमें हम अपनी अर्थव्यवस्था के लिए छोटे फार्म की अर्थव्यवस्था को उपयुक्त मानते हैं। हमारे देश में आज कृषि का क्षेत्र कम है जबकि इसकी तुलना में उन लोगों की संख्या अधिक है जो कृषि पर निर्भर रहते हैं और आवश्यकतानुसार वे भविष्य में भी कृषि पर निर्भर रहेंगे। 1970-71 में भारत की कृषि जनसंख्या की गणना की गई। इसकी रिपोर्ट के अनुसार उन सीमान्त जोतों को छोड़कर, जो कुल जोतों का 50.6 प्रतिशत है और उनमें से प्रत्येक जोत का क्षेत्रफल एक हेक्टेयर से भी कम है, शेष 3,48,11,000 जोतें रह जाती हैं और उन्हें 'छोटी' जोतों (1.0—2 0 हेक्टेयर) के वर्ग में गिना जाता है। 'अर्ध-माध्यमिक' (2.0—4.0 हेक्टेयर), 'माध्यमिक' (4.00—10.0 हेक्टेयर) और 'बड़ी' (10.0 हेक्टेयर और इससे ऊपर) जोतों ने कुल 1,47,579,000 हेक्टेयर क्षेत्रफल अर्थात् 4.24 हेक्टेयर क्षेत्रफल या औसतन 10.0 एकड़ क्षेत्रफल घेर रखा है। इस प्रकार हम हाब्सन के चयन के पक्षपाती हैं : यदि हम करना भी चाहें फिर भी हम सघन कृषि नहीं कर सकते—यह बड़े-बड़े फार्म पर खेती करने की प्रणाली है और यह प्रणाली उन्हीं अल्प जनसंख्या वाले देशों, यथा—अमरीका, मेक्सिको, ब्राजील और आस्ट्रेलिया में विद्यमान है।

इस प्रकार छोटे फार्मों की कृषि प्रणाली हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है अथवा हमारे उद्देश्यों को पूरा करती है।

भारत में भूमि-सुधार : एक विडम्बना

जैसे एक आदमी भौतिक संसाधन की अपेक्षा उत्कृष्ट अथवा महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार आदमी का मस्तिष्क और हृदय उसके भौतिक परिप्रेक्ष्य अथवा यथार्थ परिस्थितियों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है जिनमें उसे कार्य करना पड़ता है। इसलिए हल के लिए आदमी का मनोविज्ञान कृषि उत्पादन में अधिक संगत विचार है। यही विचार आदमी को काफी सीमा तक भूमि की गुणवत्ता और उसकी पूंजी के अभाव को दूर कर देता है। उसका मस्तिष्क और हृदय अधिक उत्पादन के हित में एक हो सकते हैं, यदि उसे अपनी भूमि के खण्ड का स्वामी बना दिया जाय। यह विचार कि वह अब अपना स्वामी है, बाहर के नियंत्रण के अधीन नहीं है और अपनी भूमि को मुक्त, अपने ही लिए अबाधित गति से उपयोग कर सकता है तो वह उसके लिए अधिक तथा कहीं अधिक प्रयास कर सकता है। उसे मनोवैज्ञानिक रूप से ऐसा प्रोत्साहन मिल जाता है जो उसे भूमि के प्रति अधिक अपनत्व और समर्पण की भावना प्रदान करता है। यही कारण है कि जो किसान अपने फार्म का मालिक है, वह कठोर परिश्रम करता है तथा अधिक अन्न उपजाता है जबकि एक असामी ऐसा नहीं कर पाता।

श्री डब्ल्यू० ए० लेडजिन्स्की भूमि सुधार और कृषि के प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान और विश्व बैंक के परामर्शदाता हैं। उन्होंने जापान, फ र्मूसा और दक्षिणी वियतनाम में अनुभव प्राप्त करके 'फारेन अफेयर्स' नामक एक लेख (अप्रैल 1964,

पृष्ठ 446) में लिखा है :

"चाहे अन्य संघटक कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों, फिर भी यह महत्वपूर्ण है कि जो व्यक्ति भूमि पर काम करते हैं, वे उस भूमि के मालिक हों अथवा उस भूमि पर कम से कम काश्तकार के रूप में सुरक्षित किए जा सकें, शेष सभी कुछ जल में लिखे लेख जैसा ही है। और यह उपलब्ध करना सबसे कठिन काम है। यह अपेक्षाकृत सरल है कि किसान को उत्पादन बढ़ाने के लिए उपयोग में लाया जाय लेकिन यह तभी संभव होगा जब खेतिहर का अपनी भूमि के साथ संबंध और उसके प्रति सरकार का व्यवहार तथा कृषि की अनुकूलता बनी रहे तो उसे पूंजी लगाने में प्रोत्साहन मिलेगा, वह अपनी भूमि का सुधार करेगा तथा उत्पादकता बढ़ायेगा।"

इसलिए फार्म की काश्तकारी को किसान के स्वामित्व की आवश्यकता है अथवा फार्म की काश्तकारी को किसान के स्वामित्व से बदले जाने की आवश्यकता है जिसका अर्थ यह है कि जमींदारी का नितांत उन्मूलन कर दिया जाय। भूमि के प्रत्येक खेतिहर को, चाहे वर्तमान कानून के अधीन उसकी प्रतिष्ठा कुछ ही क्यों न हो, स्थायी अधिकार देने चाहिए तथा राज्य के साथ सीधे उसका संबंध स्थापित करना चाहिए, किसी भी मध्यस्थ व्यक्ति या जमीदार को अपने आप खेती करने के लिए काश्तकारों से भूमि लेने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और किसी भी किसान को अपनी भूमि पट्टे पर देने की अनुमति नहीं देनी चाहिए जब तक कि वह केन्द्रीय शासन के सैनिक दलों का सदस्य न हो, विकृत मस्तिष्क से पीड़ित न हो अथवा खेती करने के लिए शरीर से विकलांग न हो।

फिर भी, डब्ल्यू० ए० लेडजिन्स्की ने अपनी अध्ययन सामग्री 'टेन्युरियल कंडीशन्स इन द पैकेज डिस्ट्रिक्ट्स' 1963 में योजना आयोग को प्रस्तुत की थी जिसमें यह कहा गया था कि जमींदारी का अभी तक उन्मूलन नहीं किया गया है अर्थात् उत्तर प्रदेश को छोड़कर देश के अन्य भागों में किसानों को अपने हल से जोतने वाली भूमि का मालिक नहीं बनाया गया है।

उन्होंने पांच जिलों अर्थात् अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), लुधियाना (पंजाब), शाहाबाद (बिहार), तंजौर (तमिलनाडू) और पश्चिमी गोदावरी (आंध्र प्रदेश) का दौरा किया जहां उन्हें काश्तकारी की स्थिति संतोषजनक नहीं मिली। उन्होंने कहा है :

"अलीगढ़ को छोड़कर अन्य सभी जिलों में उपयुक्त आकार के क्षेत्रों में खेती की जाती है। तंजौर और गोदावरी के जिलों की समस्या सबसे अधिक जटिल है जहां 50 प्रतिशत या इससे अधिक किसान पूर्णतया या आंशिक रूप से पट्टे की जमीन पर खेती करते हैं। यह पट्टे की शर्त भी अधिकांश मामलों में मौखिक है। तंजौर, पश्चिमी गोदावरी और शाहाबाद में

भू-अभिलेखों में काश्तकारों के बारे में कोई भी सूचना नहीं है। गत वर्षों में किसानों की बेदखली की गई है और जमींदार काश्तकारी के नियमों को विफल करने के लिए खेत-दर-खेत काश्तकारों को अभी भी बदल रहे हैं। कुछ ऐसे भी काश्तकार हैं जो काफी समय से चले आ रहे हैं। किन्तु वे भी अपने आपको असुरक्षित महसूस करते हैं। इस प्रकार, कई खेतिहरों के पास अपनी पट्टे की भूमि का कोई अधिकार नहीं है, वे बहुत लगान देते हैं और अपनी प्रतिष्ठा के प्रति वे कभी भी आश्वस्त नही हैं।"

उन्होंने यह भी कहा है :

"मद्रास और आंध्र प्रदेश में वर्तमान भूमि सुधार का कानून अस्थायी रूप का है तथा व्यापक कानून को अभी भी अधिनियमित किया जाना है। बिहार में अभी तक 1885 का टेनेन्सी एक्ट लागू है जिसमें कुछ संशोधन कर दिए गए हैं, जो अपर्याप्त हैं। पंजाब का क नून बहुत ही दोषपूर्ण है जिसमें आमूल-चूल परिवर्तत करने की आवश्यकता है। केवल उत्तर प्रदेश में ही सुविचारित व्यापक कानून अधिनियमित किया गया है जो प्रभावोत्पादी ढंग से कार्यान्वित किया जा रहा है। वहां लाखों काश्तकार और उप-काश्तकार भूमि के मालिक बना दिए गए और उन हजारों काश्तकारों को उनके अधिकार दिलाए गए जिन्हें बेदखल कर दिया गया था।"

श्री लेडजिन्स्की ने निष्कर्ष निकाला है :

"भारत में कृषि-सुधार कानून अभी बना ही है लेकिन उत्तर प्रदेश में यह कानून कार्यान्वयन और महत्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ चल रहा है। इससे एक ही शिक्षा मिलती है : भूमि-सुधार तभी हो सकता है जब उसे करने की बलवती इच्छा हो।"

'श्रीमान्' के काश्तकार अथवा जमींदारों के घरेलू फार्म और उप-काश्तकार प्रत्येक राज्य में अपने पट्टे की अवधि समाप्त होने पर बेदखल किए जा सकते हैं अथवा जमींदार अपनी इच्छा से इस अवधि से पूर्व भी उनको बेदखल कर सकता है और देश भर में इस प्रकार के काश्तकार बहुत जल्दी हटा दिए जाते हैं लेकिन उत्तर प्रदेश राज्य में इन काश्तकारों को स्थायी अधिकार दिए गए हैं। उत्तर प्रदेश सरकार एक कदम आगे बढ़ी है : इस सरकार ने उन व्यक्तियों को भी स्थायी अधिकार प्रदान किए हैं जिनका राजस्व अभिलेखों में 'अतिक्रामक' के रूप में उल्लेख किया गया है। 1945-46 के भू-अभिलेखों के अनुसार इन काश्तकारों, उप-काश्तकारों और 'अतिक्रामकों' को कुल काश्तकारों का लगभग 1/4 भाग माना जाता है और इन लोगों ने राज्य की खेती की जाने वाली भूमि का 1/7 भाग जोता है। इसके अलावा ऐसे लाखों लोग हैं जिनका जमीन पर कब्जा तो था लेकिन उनके नाम किसी भी वर्ग

के अन्तर्गत राजस्व कागजात में नहीं लिखे गए थे : उनके नाम 1952 में लघु प्रक्रिया द्वारा अभिलेखों में दर्ज किए गए और अन्य व्यक्तियों के समान ही उनको स्थायी अधिकार दिए गए ।[8]

देश के कई भागों के अधिकतम भूमि रखने के मानदंड छठे दशक के अन्तिम वर्षों में और सातवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में शुरू किए गए । फिर भी जम्मू और कश्मीर तथा पश्चिमी बंगाल को छोड़कर प्राय: सभी जगह इसके परिणाम निराशा-जनक थे । लगभग 12 लाख हेक्टेयर भूमि फालतू घोषित की गई जिसमें से 2/3 भाग भूमि राज्य सरकारें वास्तव में ले सकीं ताकि उस भूमि को भूमिहीन कृषि कामगारों और ग्रामीण जनता में से विभिन्न वर्गों के उपयुक्त लोगों में वितरित किया जाए । वास्तव में जो भूमि वितरित की गई वह केवल 7 लाख हेक्टेयर ही थी । अधिक-तम भूमि से कई प्रकार की छटें पाने के लिए व्यवस्था की गई थी और कानून में कई कमियां रह गई थीं, जिनके कारण न्यायालयों द्वारा प्राय. दखल दिया गया । ये ऐसे कारक थे जो भूमि सुधार के कानून को प्रभावहीन अथवा असंतोषप्रद बनाने के लिए उत्तरदायी रहे ।

लेडजिन्स्की का यह निष्कर्ष है कि भूमि-सुधार के लिए वास्तव में जितने कानून बनाए गए, चाहे उनका संबध लगानों को नियमित करने, सुरक्षा और कब्जे का स्थायित्व अथवा अधिकतम सीमा का आरोपण और भूमिहीनों के लिए फालतू भूमि का बन्दोबस्त ही क्यों न रहा हो, फिर भी उनका देश भर में कार्यान्वयन न हो पाया । यह तथ्य बंबई[9] और हैदराबाद[10] के कानूनों के कार्यान्वयन से संबंधित दो रिपोर्टों के अधिकांश भाग में वर्णित है, एक रिपोर्ट वी० एम० दांडेकर और सी० जे० खुदानपुर तथा दूसरी रिपोर्ट ए० एन० खुसरू ने तैयार की थी ।

8. मेरे जनसेवक होने के कारण और 'कुलक' अथवा बड़े या धनी जमींदारों का मित्र होने के नाते मेरे प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक नेताओं ने मेरी आलोचना की । शायद मेरे लिए यह बात आत्म-प्रशसा की नहीं मानी जाए यदि मैं यह कहू कि उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारी भूमि-सुधार कानून में सम्मिलित किए जाने वाला प्रत्येक शब्द, विचार या संकल्पना मेरा ही योगदान है । राज्य मन्त्रिमंडल के मेरे साथियों ने बड़ी कड़ाई से इस संबध में किए जाने वाले कई उपायों का विरोध किया था । मेरे पास राजस्व विभाग का चार्ज था, चाहे मैं पार्लिया-मेंटरी सचिव अथवा पूर्णरूपेण मंत्री अप्रैल 1949 से अप्रैल, 1959 तक रहा, जिसमें दो छोटी अवधियां 1947-48 और 1951-52 को छोड़ा जा सकता है । जब मैंने 1959 में राज्य मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दिया तो यह पोर्टफोलियो मेरे उन साथी को सौंपा गया जो वस्तुत: जमींदारी उन्मूलन का विरोध करते थे और जिन्हें गरीब और अधिकारहीन लोगों से न कोई प्रेम था और न कोई सहानुभूति, और उन्होंने उन गरीबों के दु खद समय में साथ नहीं दिया। जब उन्हें अपने ही हल से जोती जाने वाली जमीन की बंदबली स्वीकार करनी थी ।
9. वर्किंग ऑफ बाम्बे टैनेसी एक्ट, 1948, रिपोर्ट ऑफ इन्वैंस्टीगेशन, गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एड इकनॉमिक्स, पूना, 1957.
10. इकनॉमिक एड सोशल इफैक्ट्स ऑफ जागीरदारी एबोलीशन एंड लैंड रिफार्मस् इन हैदराबाद, उस्मानिया यूनिवर्सिटी प्रेस, हैदराबाद, 1958.

कई क्षेत्रों में जमींदारों ने खुलकर काश्तकारों को बेदखल करने का आन्दोलन चलाया जबकि कई काश्तकार बहुत लंबी अवधि से काश्तकार थे। उन्हें वास्तव में बल-पूर्वक या धोखा देकर बेदखल करा दिया लेकिन यह तर्क दिया गया कि उन काश्तकारों ने अपनी इच्छा से आत्मसमर्पण किया है और उनकी भूमि को भी अपनी घरेलू अथवा निजी खेती के फार्मों में शामिल कर लिया गया है। कई राज्यों में मंत्रियों तक ने, जो पुराने जमींदार अथवा बड़ी-बड़ी जोत के परिवारों के नहीं थे, संदिग्ध तरीकों से बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों को हड़प लिया और उसके बाद बड़ी-बड़ी जोत वाले परिवारों के सदस्य बन गए।

सारे देश में न केवल अवैध बेदखली की अनुमति दी गई अथवा कांग्रेस सर-कारों ने इस कार्य के प्रति देखी-अनदेखी कर दी, बल्कि राज्यों को पंचवर्षीय योजनाओं के जरिये यह अनुमति मिल गई। यहां तक कि भारत सरकार ने भी अनुमति दी कि राज्य सरकारें ऐसे कानून अधिनियमित करें ताकि जमींदार 30 से 60 एकड़ तक की भूमि को 'स्वयं खेती करना' जैसे पवित्र नाम के अन्तर्गत काश्तकारों से भूमि फिर वापिस ले सकें।

प्रत्येक राज्य सरकार ने लालचवश इस निदेश का अनुसरण किया। लेकिन उत्तर प्रदेश सरकार ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। जबकि इस कार्यवाही ने गरीब आदमी के हितों का विरोध करने वाली कांग्रेस की सदाशयता को अस्वीकार किया फिर भी यह कार्यवाही बेदखली, अन्याय और भ्रष्टाचार का प्रचुर स्रोत बनी रही। योजना-आयोग के अभिलेखों के अनुसार महाराष्ट्र जैसे अकेले राज्य में ही 1948 में कृषि-सुधार किए जाने के बाद एक दशब्दी में भू-स्वामियों ने अपनी निजी खेती करने के लिए 17 लाख एकड़ भूमि वापिस ले ली। अधिक समय से खेती करने वाले काश्तकारों में से 2 काश्तकारों को अपनी भूमि से हाथ धोना पड़ा।

एक विदेशी विद्वान ने भारत के भूमि-सुधार के बारे में अध्ययन किया है। उनके अनुसार कांग्रेस-नीतियां और उसकी सरकारों की अक्षमताओं ने "स्वामित्व-हरण की ऐसी दशा पैदा कर दी है जो भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं थी।"

कुछ राज्यों में 'हरित क्रांति' ने स्वामित्व-हरण की एक नई लहर पैदा कर दी। श्री वाल्फ़ लेडजिन्स्की ने जुलाई-अगस्त, 1969 में उत्तरी बिहार का दौरा किया और उन्होंने उस क्षेत्र में 'क्रांति' के प्रभाव का अध्ययन किया। यह क्षेत्र कोसी परियोजना द्वारा अबाध गति से सिंचाई के लिए आश्वस्त था। इस क्षेत्र के विषय में श्री वॉल्फ़ लेडजिन्स्की ने यह आलोचना की है कि इस क्षेत्र में प्रत्येक भूमि-सुधार कानून के विधिवत पालन में टालमटोल किया गया है। उन्हें एक ओर कृषि-मजदूरों और छोटे किसानों की आमदनियों के मध्य अन्तर मिला है तो दूसरी ओर बड़े-बड़े किसानों में कृषि से होने वाली अधिक आमदनी के कारण काफी अन्तर आ गया है। उच्च स्तर के किसान अपनी व्यक्तिगत खेती के लिए अधिकाधिक भूमि खरीद रहे थे। श्री लेडजिन्स्की ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भूमि-सुधार के सभी पक्ष 'गहरी उदासी' से भरपूर थे और उन्होंने यह कहा है कि "यदि भूमिहीनों, बटाई पर खेती करने वालों और छोटे

किसानों की दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ तो वे संभवतया नरक की ओर उस सरलता से बढ़ जाएंगे जिस सरलता से फसलें बढ़ रही हैं। हमें यह बताया गया है कि यह स्थिति भारतीय ग्रामीण परंपरा में नहीं होगी लेकिन हरित-क्रांति में ऐसा नहीं है।"

1969 में भारत सरकार ने 'वर्तमान कृषिक तनाव के कारण और उसकी प्रकृति' पर अध्ययन कराया जिसमें देश के कतिपय भागों के असंतोष के परिणाम लगभग एक-से ही थे। तीसरी पंचवर्षीय योजना की पाठ्य-सामग्री में पहले ही यह स्वीकार किया गया था कि काश्तकारी नियमों का व्यावहारिक प्रभाव बहुत ही कम रहा, जैसी कि आशा की जा रही थी क्योंकि जमींदारों ने किसानों को स्वैच्छिक समर्पण के नाम पर बेदखल कर दिया था।

इसलिए कम्युनिज्म ने, चाहे वह औसत दर्जे का हो या नितांत उग्र ही क्यों न हो, केरल, आंध्रप्रदेश, पश्चिमी बगाल या बिहार में अपना सिर ऊंचा कर लिया है और देश के कुछ भागों में असंतोष या यहां तक कि हिंसा भड़क उठी है। इसका मुख्य कारण यह है कि जमींदारी उन्मूलन के सबंध में कांग्रेस-नेतृत्व के सिद्धांत और व्यवहार में बड़ा अन्तर है। शायद ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहा भूमि-सुधार के मामले में सरकारी नीति और उसके कार्यान्वियन में भारी अन्तर हो।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण 1961-62 के 17वें बार के अध्ययन से उपलब्ध आंकड़ों की तुलना अखिल भारतीय कृषि जनगणना 1970-71 से की जाए तो यह विदित होगा कि देश में भूमि-वितरण के तरीके दस वर्षों की अवधि में अधिकतर न्यूनतम वर्ग के लोगों की हानि और उच्च वर्ग के किसानों को लाभ पहुंचाते रहे हैं।

तालिका 42 राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (1961-62) से ली गई है जिसमें जोतों की संख्या और आकार दिखाए गए हैं।

तालिका 42

प्रचालन जोतों की अनुमानित संख्या और जोतों के आकार के अनुसार कार्यान्वित किए गए जोतों के क्षेत्रफल, 1961-62

जोतों का क्षेत्रफल	संख्या		खेती की गई जोतों का क्षेत्रफल	
	दस लाख हैक्टेयर में	प्रतिशतता	दस लाख हैक्टेयर में	प्रतिशतता
एक हेक्टेयर से कम	19.8	39.1	9.2	6.9
1-3 हेक्टेयर	18 0	35.5	32.1	24.1
3-5 हेक्टेयर	6.1	12.0	23.0	17.2
5-10 हेक्टेयर	4.5	8.9	30.6	22.9
10-12 हेक्टेयर	1.8	3.5	23.1	17.3
12 हेक्टेयर और उससे अधिक	0.5	1.0	15.5	11 6
जोड़	50 7	100 0	133 5	110.0

स्रोत : राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण, 17वां अध्ययन।

टिप्पणी : खेती योग्य जोत मे कृषि-उत्पादन के लिए सभी प्रकार की ऐसी भूमि शामिल है जिसका पूर्णतया या अशतया उपयोग होता हो।

ऊपर जो सर्वेक्षण दिया गया है उसके 9 वर्षों बाद भारत में पहली बार कृषि जगगणना 1970-71 में की गई। दिसम्बर, 1975 में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित की गई। इस रिपोर्ट के अनुसार 1970-71 में खेती योग्य जोतों के वित्ररण का आकार तालिका 43 (पृ० 157) में दिखाया गया है।

1970-71 में एक एकड़ से कम सीमांत जोतों का कुल भाग खेती-योग्य जोतों की कुल संख्या का 50.6 प्रतिशत था लेकिन इसने केवल 9.0 प्रतिशत क्षेत्रफल घेर लिया था। लगभग इनका 2/3 भाग अर्थात् देश में खेतिहरों की कुल संख्या 32.9 प्रतिशत थी और उन्होंने आधे एकड़ अथवा दो बीघा जमीन से भी कम क्षेत्रफल प्राप्त किया था। कुल जोतों की संख्या में से लगभग 1/6 भाग की जोतों ने कुल क्षेत्रफल का 1/5 भाग घेरा था अथवा वे एक से अधिक व्यक्तियों के हाथ में थीं। आधे हेक्टेयर से कम क्षेत्रफल वाली जोतों के स्वामियों को 'किसान' के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। यह केवल सुख-बोधक है परन्तु उनमे से कितने बच पाए हैं जिन्हें भूमि के जो टुकड़े मिले हैं उनमे शायद ही उनके परिवारों के सदस्यों के लिए वर्ष-पर्यन्त रोटी और कपड़ा देने की सामर्थ्य हो, जब तक कि वे स्वयं कोई अन्य धंधा न करें।

19% जोतें बहुत छोटी (1.0—2.0 हेक्टेयर) तक हैं और उन्होंने 12% क्षेत्रफल घेरा है। मध्यम प्रकार की जोतों (2.0—4.0 हेक्टेयर) कुल 15% हैं और इन्होने कुल क्षेत्रफल का 18.5% भाग घेरा है।

इसके विपरीत, दूसरी ओर मध्यम (4.0—10.0 हेक्टेयर) बड़ी जोतें 10.0 हेक्टेयर और इसस ऊपर) मोटे तौर पर (60.6%) इस देश के कुल कृषि योग्य क्षेत्र के 1.5 भाग में हैं। इनमें से 7% मध्यम प्रकार की जोतें थीं और 4% बड़ी जोतें थीं।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 17वें अध्ययन ने यह सूचित किया है कि 1961-62 में अपने देश में कृषि योग्य जोतें 507 लाख थीं। 1970-71 की जनगणना के अनुसार यह विदित हुआ है कि उनकी सख्या बढ़कर 705 लाख हो गई हैं। सबसे खराब बात यह है कि भूमि के टुकड़े-टुकड़े पूर्णतया छोटी-छोटी जोतों में हुए हैं। जबकि 1961-62 में कुल जोतों का 39% जोतों में से प्रत्येक जोत का क्षेत्रफल 1 हेक्टेयर से भी कम था। 1970-71 में इस प्रकार की जोतें 51% हो गईं। इसके विपरीत 1961-62 में 10 हेक्टेयर से अधिक बड़े फार्म 23 लाख से बढ़कर 1970-71 में 28 लाख हो गए। इस प्रकार के फार्म का औसत क्षेत्रफल 17 हेक्टेयर से बढ़कर 18 हेक्टेयर हो गया। इसके फलस्वरूप कुल बड़े फार्मों में 386 लाख हेक्टेयर अथवा 28.9% भूमि 1961-62 में थी, इस प्रकार इन बड़े फार्मों ने 500 लाख हेक्टेयर भूमि घेर ली, अर्थात् 1970-71 में यह कुल भूमि का 30.8% था।

यद्यपि, संकल्पनाओं, प्रक्रियाओं और यहां तक कि औसत के अंतर के कारण, 1961-62 में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण और 1970-71 में कृषि जनगणना द्वारा बताए गए आंकड़े, जो दो तालिकाओं में दिए गए हैं, उनकी तुलना नहीं की जा सकती, लेकिन जो मोटे तौर पर निष्कर्ष निकले हैं, वे अप्रभावित हैं।

तालिका 43

आकार के अनुसार खेती योग्य जोतों की संख्या और क्षेत्रफल

क्रम संख्या	आकार वर्ग (हेक्टेयर)	व्यक्तिगत जोतें		संयुक्त जोतें		कुल जोतें	
		संख्या	क्षेत्रफल	संख्या	क्षेत्रफल	संख्या	क्षेत्रफल
1.	निम्न 0.5	19344	4560	3834	886	23178	5446
2.	0.5— 1.0	10550	7676	1945	1423	12504	9099
3.	1.0— 2.0	11407	16366	2025	2916	13432	19282
4.	2.0— 3.0	5607	13625	1115	2728	6722	16353
5.	3.0— 4.0	3253	11210	706	24 6	3959	13646
6.	4.0— 5.0	2194	9740	490	2189	2684	11929
7.	5.0—10.0	4215	29121	1033	1184	5248	36305
8.	10.0—20.0	1665	22139	470	6382	2135	28521
9.	20.0—30.0	295	6863	106	2481	401	9344
10.	30.0—40.0	84	2890	36	1288	120	4178
11.	40.0—50.0	30	1350	15	700	45	2050
12.	50.0 और इससे अधिक	40	3592	25	2379	65	5971
	जोड़	58684	129132	11809	32992	70493	162124

स्रोत : 1970-71 की अखिल भारतीय कृषि जनगणना की रिपोर्ट पर आधारित, तालिका 1, पृष्ठ 113.

यह तथ्य है कि 7वें दशक में बड़े पैमाने पर काश्तकार बेदखल किए गए और जमींदारों ने उनकी भूमि हथिया ली। इस तथ्य की पुष्टि 1961-62 के राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण और 1970-71 के अखिल भारतीय कृषि जनगणना के आंकड़ों से हो जाती है तथा 1961 और 1971 की जनगणना रिपोर्टों से लिए गए आंकड़ों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।

तालिका 44

1 मार्च, 1961 और 1 अप्रैल, 1971 को अखिल भारतीय कृषि मजदूरों की संख्या और प्रतिशतता

कृषि और सम्बद्ध कार्यकलाप	1 मार्च, 1961		1 अप्रैल, 1971	
	कामगारों की संख्या	कुल संख्या का प्रतिशत	कामगारों की संख्या	प्रतिशतता
1	2	3	4	5
(I) कृषि (उपयुक्त शक्ति)	118286	71.45	129161	71.61
(क) खेतिहर	84601	51.10	78177	43.34
(ख) कृषि मजदूर	27918	16.87	47489	26.33
(ग) अन्य कृषि और सम्बद्ध कार्यकलाप	5767	3.48	3495	1.94
(II) वन रोपण और लट्ठा काटना	268	0.16	143	0.08
(III) मत्स्य-पालन	544	0.33	586	0.32
जोड़	119098	71.94	129890	72 1

स्रोत : 'द नेशनल एकाउंटस स्टैटिस्टिक्स', 1970-71 से 1975-76 (जनवरी 1978), केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन, भारत सरकार, पृ० 126.

कुछ लेखकों ने यह सुझाव दिया है कि 'खेतिहर' और 'कृषि मजदूर' शब्दों की परिभाषाएं और संकल्पनाएं 1961 और 1971 की जनगणनाओं के आधार पर लगभग एक-सी थीं। लेकिन इन दोनों जनगणनाओं में इन दोनों प्रकार के अलग-अलग वर्गों के कार्यान्वयन के लिए जो सुझाव दिए गए हैं, वे सुझाव या लक्ष्य अधिकांशतः इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि इन दोनों जनगणनाओं में खेतिहर और मजदूरों के आंकडों में भारी अंतर है और इससे सही तसवीर नहीं उतर पाती। इन दोनों जनगणनाओं में कामगारों और अन्य व्यक्तियों के पहचान के लक्ष्य में भी अंतर है। जिसके तीन मुख्य कारण हैं : (i) 1971 की जनगणना में किसी व्यक्ति को कामगार या अन्य व्यक्ति में वर्गीकृत करने के लिए उसके मुख्य कार्यकलाप पर ध्यान दिया गया

है जबकि 1961 में सरल ढंग से दोहरा वर्गीकरण किया गया है; (ii) नियमित और मौसमी काम की अलग-अलग अवधियों का संदर्भ दिया गया है; और (iii) दोनों जनगणनाओं में अलग-अलग प्रश्न पूछे गए हैं।

फिर भी रजिस्ट्रार जनरल ने दोनों ही जनगणनाओं के आर्थिक प्रश्नों का फिर से सर्वेक्षण कराया जिसका बहुत सरल आधार था, और जिसमें दिसम्बर, 1971 से जुलाई, 1972 तक की अवधि ली गई ताकि कामगारों के तुलनात्मक अनुमान तैयार करने के लिए समायोजन करने वाले कारक सुनिश्चित किए जा सकें। फिर से सर्वेक्षण की गई रिपोर्ट में व्यवस्थित दरों और खेतिहरों की, कृषि मजदूरों और अन्य मजदूरों की पुरुष, महिला, ग्रामीण और शहरी वर्गों के अनुसार समायोजित संख्या दी गई है।

1961 और 1971 में खेतिहरों और कृषि मजदूरों की संख्या के अनुमान जो उपर्युक्त तालिका या विवरण में दिए गए हैं, वे 1971 की संकल्पना के आधार पर निकाले गए जिन्हें उस तरीके से तैयार किया गया था, जो रजिस्ट्रार जनरल ने अपनी रिपोर्ट में सुझाया था। इसलिए ये आंकड़े सही तसवीर देने में उपयुक्त माने जाते हैं।

दोनों जनगणना रिपोर्टों के अनुसार 15 बड़े-बड़े राज्यों में कृषि मजदूरों और खेतिहरों के भाग की प्रतिशतता 1 अप्रैल, 1961 और 1 अप्रैल, 1971 में इस प्रकार हैं :

तालिका 45

1 अप्रैल, 1961 और 1 अप्रैल, 1971 को भारत में कृषि तथा खेतिहरों का अनुपात

राज्य		वर्ष	
		1961	1971
1	2	3	4
1.	आंध्र प्रदेश	0.76	1.18
2.	आसाम	0.07	0 18
3.	बिहार	0.41	0.90
4.	गुजरात	0 30	0 52
5.	हरियाणा	0.13	0 33
6.	हिमाचल प्रदेश	0.02	0.06
7.	जम्मू और कश्मीर	0.03	0.05
8.	कर्नाटक	0.28	0.67
9.	केरल	0.90	1.72
10.	मध्य प्रदेश	0.29	0.50
11.	महाराष्ट्र	0.51	0.83
12.	उड़ीसा	0.24	0.58

क्रमशः

1	2	3	4
13.	पंजाब	0.24	0.47
14.	राजस्थान	0.07	0.14
15.	तमिलनाडु	0.47	0.97
16.	उत्तर प्रदेश	0.16	0.35
17.	पश्चिमी बंगाल	0.41	0.83
	अखिल भारतीय	0.33	0.61

टिप्पणी : वर्ष 1961 और 1971 के लिए प्रत्येक राज्य के कृषि मजदूरों और खेतिहरों के अनुपात का हिसाब लगाया गया है। इसका परिणाम यह निकला है कि 1961 और 1971 के मध्य के वर्षों में कुल राज्यों में अनुपात में वृद्धि हुई है, यद्यपि यह वृद्धि राज्यों में समान रूप से नहीं हुई है। अनुपात में सबसे अधिक वृद्धि हिमाचल प्रदेश में हुई है। फिर भी 1961 से हिमाचल प्रदेश और हरियाणा जैसे राज्यों के लिए सीधे ही विवरण उपलब्ध नहीं हो सके हैं। यदि ऐसे राज्यों का लेखा-जोखा ध्यान में न लाया जाय तो जिन राज्यों में काफी वृद्धि हुई है वे राज्य अवरोही क्रम में आसाम कर्नाटक, उड़ीसा और बिहार हैं। कृषि मजदूरों और खतिहरों का अनुपात 1961 से अवरोही क्रम में केरल, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और तमिलनाडू में पहले ही बहुत ऊंचा रहा है।

आगे दिए गए विवरण में 1959-60 से 1970-71 की अवधि में उत्तर प्रदेश की जोतों के आकार में परिवर्तन की तुलना कुल मिलाकर देश के शेष राज्यों से की गई है। इससे यह पता चलता है कि उत्तर प्रदेश में 'बड़ी-बड़ी जोतों' (10 हेक्टेयर या इससे अधिक क्षेत्रफल) की संख्या में तेजी से कमी आई है अर्थात् 61% की कमी आई है और शेष भारत में घिरे हुए क्षेत्रफल में 65% का क्षेत्रफल है जहां इन जोतों की संख्या और क्षेत्रफल अपेक्षाकृत बहुत कम रहा है अर्थात् संख्या में 21% और क्षेत्रफल में 26% भाग रहा है।

उत्तर प्रदेश में 'मध्यम' (4.0 से 10 0 एकड़) प्रकार की जोतों की संख्या और क्षेत्रफल में स्पष्ट कमी भी आई है, अर्थात् 23.3 प्रतिशत और 21.9 प्रतिशत तक कमी आई है, जबकि शेष देश में क्रमशः तुलनात्मक आंकड़े 0.4 और 2.8 प्रतिशत रहे हैं।

इससे भी अधिक खराब स्थिति 'अर्ध-मध्यम' प्रकार (2.0 से 4.0 हेक्टेयर) के मामले में देखी गई है जबकि उत्तर प्रदेश में उन दोनों की संख्या और आकार में कमी हुई है, वे दोनों देश के अन्य भागों में वस्तुतः आगे बढ़े हैं।

इस स्थिति की एक और रोचक विशेषता भी है। उत्तर प्रदेश में 'सीमान्त' जोतों (1 हेक्टेयर से कम) और 'छोटी' जोतों (1 0 से 2.0 हेक्टेयर) की संख्या में क्रमशः 13 9 और 9.7 प्रतिशत की वृद्धि पिछले दशक में हुई है। जबकि शेष भारत में इनकी संख्या में क्रमशः 36.9 और 20.0 तक की वृद्धि हुई है।

यहां इसका उल्लेख करना भी असंगत न होगा कि उत्तर प्रदेश में 'सीमांत' और 'छोटी' जोतों की संख्या कम थी क्योंकि उपकाश्तकार, तथाकथित अनधिकार प्रवेश करने वाले और वे लोग जिनके नाम सरकारी कागजात में किसी भी हैसियत से नहीं दिखाए गए थे लेकिन बाद में राज्य सरकार ने इस दिशा में जो विशेष अभियान शुरू किया उसके फलस्वरूप उनके नाम लिखे गए, इन सबके लिए भूमि-सुधार के साधन के रूप में सरकार द्वारा स्थायी अधिकार दिए गए थे। उनकी भूमि नहीं छीनी गई थी और न ही उनकी 'बड़ी और 'मध्यम' जोतों में कोई वृद्धि की गई थी।

1971 में उत्तर प्रदेश के कृषि मजदूरों और खेतिहरों के प्रतिशत भाग में वृद्धि 16 से 35 तक हो गई जैसा कि पीछे तालिका 45 में दिखाया गया है लेकिन अप्रैल, 1959 में राजस्व विभाग के नेतृत्व के परिवर्तन से ही इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। सहानुभूतिपूर्ण प्रशासन के अभाव में कई कमजोर 'छोटे' अथवा 'सीमांत' किसानों को जोतों की चकबंदी करते समय उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया और यह स्थिति सातवें दशक में बराबर बनी रही। यह अधिकार वही थे जो उन्हें 1959 के पूर्व कानून द्वारा मिले थे।

ऊपर दिए गए विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कांग्रेस की नीतियां अथवा तथाकथित भूमि-सुधारों के फलस्वरूप विशेषकर अधिकतम भूमि रखने के कानून अथवा 1:3 अथवा 3:9 का वह अनुपात जो 1961 में कृषि मजदूरों और खेतिहरों के बीच में था—10 वर्ष बाद, अर्थात् 1971 में, 3:5 में परिवर्तित हो गया। खेतिहरों की संख्या 15 प्रतिशत कम हो गई और भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़कर 56 प्रतिशत हो गई जिसका अर्थ यह है कि ऐसे करोड़ों किसान, विशेषकर सीमांत और छोटे किसान, एक दशाब्दी की अल्प अवधि में ही अपने खेतों से बेदखल कर दिए गए जिनके पास भूमिहीन मजदूरों की श्रेणी में आने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था।

'हिन्दुस्तान टाइम्स', 29 मार्च, 1976 में संवाददाता की एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसमें भूमि छीनने की प्रक्रिया बराबर बने रहने की स्थिति का वर्णन है और यह बताया गया है कि अधिकाधिक किसान अपनी जोतों से हटाए जा रहे थे। यह विवरण इस प्रकार है :

> "1961-71 की अवधि में कृषि कामगारों की संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि और पश्चिमी बंगाल के खेतिहरों में उतनी ही कमी से सरकार और आयोजकों को चिंता हो गई है। गत चार वर्षों में कम होने की प्रवृत्ति की अपेक्षा आगे वृद्धि होती गई है और अब यह वृद्धि इतनी हो गई है कि कृषि कामगार ग्रामीण जनता के 30 प्रतिशत हैं।
>
> " 1961 में पश्चिमी बंगाल में कुल कामगारों का 15.3 प्रतिशत भाग

तालिका 46

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 16वें और 26वें अध्ययन के अनुसार उत्तर प्रदेश और शेष भारत (ग्रामीण क्षेत्र) में प्रचालन जोतों की संख्या और क्षेत्रफल, उनकी वृद्धि/कमी का प्रतिशत तथा जोतों का औसतन आकार दर्शाने वाला विवरण

(संख्या : '000; क्षेत्र : '000 हेक्टेयर
हेक्टेयरों में प्रति जोत औसत माप)

क्रम संख्या जोतों का वर्ग	उत्तर प्रदेश (ग्रामीण)						शेष भारत (ग्रामीण)						औसत माप का			
	राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण, 16वां अध्ययन, 1959-60		राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण, 26वां अध्ययन, 1970-71		1959-60 की तुलना में 1970-71 में वृद्धि/कमी की प्रतिशतता		राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण 16वां अध्ययन, 1959-60		राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण, 26वां अध्ययन, 1970-71		1959-60 की तुलना में 1970-71 में वृद्धि/कमी की प्रतिशतता		उत्तर प्रदेश		शेष भारत	
	संख्या	क्षेत्र	संख्या	क्षेत्र	संख्या	क्षेत्र	संख्या	क्षेत्र	संख्या	क्षेत्र	संख्या	क्षेत्र	16वां अध्ययन	26वां अध्ययन	16वां अध्ययन	26वां अध्ययन
1. सीमांत (हेक्टेयर से कम)	4842	2303	5513	2693	13.9	16.9	15055	6524	20603	8894	36.9	36.3	0.48	0.49	0.43	0.43
2. छोटे (1.0−2.0 हेक्टेयर)	2719	3902	2982	4356	9.7	11.2	8160	12102	9791	14242	20.0	17.7	1.44	1.46	1.48	1.45
3. अर्धमध्यम (2.0−4.0 हेक्टेयर)	1996	5578	1123	5123	(−) 8.7	(−) 8.2	7222	20654	8254	23190	14.3	12.3	2.79	2.81	2.86	2.81
4. मध्यम (4 0−10.0 हेक्टर)	894	5139	686	4016	(−)23.3	(−)21.9	5680	35297	5659	34300	(−)0.4	(−)2.8	5.75	5.85	6.21	6.06
5. बड़े (10 हेक्टेयर और उससे अधिक)	186	2900	73	1026	(−)60 8	(−)64.6	2128	37480	1686	27844	(−)20.8	(−)25.7	15.59	14.05	17.51	16 51

कृषि कामगारों का था लेकिन इसी अवधि में खेतिहरों का प्रतिशत 38.50 से घटकर 31.75 रह गया है।"

देशभर में कृषि-मजदूरों का प्रतिशत लगातार बढ़ा है जो ग्रामीण श्रमिक जांच-पड़ताल की दो रिपोर्टों से स्पष्ट होता है। इनमें से एक रिपोर्ट 1964-65 में तैयार की गई थी और दूसरी रिपोर्ट 1974-75 में तैयार की गई थी। दोनों रिपोर्टों के अनुसार कृषि-मजदूरों की कुल संख्या अर्थात् 1964-65 लाख और 1974-75 में 207 लाख में से 40 प्रतिशत अनुसूचित जातियों के और 10 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों के कृषि-मजदूर थे।

योजना आयोग के सर्वेक्षण के अनुसार कृषि-मजदूरों की संख्या बढ़कर 1977-78 में 530 लाख हो गई अर्थात् जनसंख्या-वृद्धि की दर से अपेक्षाकृत अधिक थी। यह भी कहा जा सकता है कि कुल कृषि-मजदूरों के 60 प्रतिशत मजदूरों ने प्रति मजदूर एक एकड़ से कम भूमि पर खेती की। यहां तक कि इन मजदूरों के 2/3 भाग के पास आधे एकड़ से भी कम भूमि रही। लगातार बेरोजगार और कम रोजगार पाने वाले लोगों की संख्या में काफी वृद्धि हुई।

यंत्रीकृत फार्म जो आज हमारे देशभर में फैले हुए हैं, स्वातंत्र्योत्तर युग की बहुत बड़ी देन हैं। ब्रिटिश शासन काल में ऐसे बहुत कम फार्म थे। एक ओर जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, (क) उन लोगों का काफी अनुपात था जिनके पास ब्रिटिश शासन में काश्तकारी थी लेकिन उन काश्तकारियों की समयावधि अनिश्चित थी, उदाहरणार्थ उपकाश्तकार बटाई पर खेती करने वाले और तथाकथित अनधिकार प्रवेश करने वाले खेतिहर यहां तक कि सीर और खुदकाश्त (जमींदारों की अपनी स्वयं खेती की गई भूमि) पर कब्जा न करने वाले काश्तकार सरसरी तौर पर बेदखल किए गए; और (ख) जमींदार जिन्होंने पहले ही अपनी जमीनें काश्तकारों को लगान पर उठा दी थीं क्योंकि उन्हें या तो इन काश्तकारों से लगान के रूप में काफी आय हो जाती थी अथवा जिन खेतों के वे मालिक थे उन क्षेत्रों का क्षेत्रफल इतना अधिक नहीं था कि वे कुछ अन्य व्यवसाय भी कर सकें। उन्हें हमारे राजनीतिक नेताओं ने 30 से 60 एकड़ भूमि में स्वयं खेती करने के लिए अपनी भूमि वापिस लेने का अधिकार दे दिया था। दूसरी ओर, इन बड़े-बड़े किसानों को ट्रैक्टर और अन्य बड़ी कृषि-मशीनें खरीदने के लिए आसान शर्तों पर ऋण भी दिए गए ताकि वे उस भूमि में खेती कर सकें जिन्हें उन्होंने फिर से अपने हाथ में ले लिया था। इस प्रकार राज्य की नीतियों के कारण यंत्रीकृत और पूंजीबद्ध खेती को समय के साथ-साथ अधिक प्रोत्साहन मिलता गया। यह इस तथ्य से स्पष्ट होगा कि हमारे देश में ट्रैक्टरों की संख्या 1,945 में 1383 (अकेले महाराष्ट्र में 761) से बढ़कर 1951 में 8,635, 1961 में 31,016, 1971 में 148,300 और 1977 में 2,44,598 हो गई।

यह फार्म लाखों गरीब किसानों को बेदखल कर स्थापित कर दिए गए और

इनके बने रहने से लाखों कृषि कामगार बेरोजगार हो गए। यही वे किसान हैं जो पहले भूमि के जोतने वाले थे और जो अपने देश में नकसलवादियों की क्रोड़ बने और उनमें भर्ती कराने की पृष्ठभूमि बनाने लगे। ये वही वंचित, बेदखल और अधिकारच्युत व्यक्ति थे जिनके लिए कल तक शासक कांग्रेस पार्टी के शिविरों में कोई भी व्यक्ति कुछ न कह सका। यह देश का दुर्भाग्य ही है कि कांग्रेस पार्टी के सदस्य बात बहुत करते हैं और उन्हें भी इस दुःख-दर्द को जनता पार्टी के शिविरों में बताने के लिए अनुमति नहीं दी गई।

भूमि-सुधार-कार्यक्रम के मुख्य संघटक इस प्रकार हैं : मध्यस्थ काश्तकारी का उन्मूलन; काश्तकारी का सुधार जिसमें लगान का नियमित करना शामिल है; काश्तकारी की सुरक्षा और काश्तकारों के कब्जे का स्थायीकरण; अधिकतम जोतों का लागू किया जाना तथा जोतों की चकबन्दी। देश की केन्द्रीय सरकार अथवा विभिन्न राज्य सरकारें इन कार्यक्रमों को चलाने में कितनी सफल हुई हैं—यह तथ्य विश्व बैंक रिपोर्ट से स्पष्ट होगा जो पेरिस में 17 और 18 जून, 1971 को आयोजित 'भारत-सहायता संघ' (एड-इंडिया कन्सोर्टियम) की बैठक में प्रस्तुत की गई थी। इस रिपोर्ट में कहा गया है :

> "अभी कानून अधिनियमित किए जाने हैं ताकि असम, तेलंगाना (आंध्र), हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, महाराष्ट्र, मैसूर और तमिलनाडू में मध्यस्थ पट्टेदारी और निहित स्वार्थों का उन्मूलन किया जा सके। बिहार में सबसे खराब दशा थी। इस राज्य में जमींदारी वस्तुतः ज्यों की त्यों बनी रही। आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, पंजाब तथा तमिलनाडू में काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार उपलब्ध नहीं है। आंध्र प्रदेश, बिहार, सौराष्ट्र और तमिलनाडू में काश्तकारों और बटाई पर खेती करने वालों में असुरक्षा की भावना बनी रही। हरियाणा और पंजाब में काश्तकारों की सुरक्षा इस बात पर निर्भर थी कि जमींदारों को भूमि वापस लेने का सतत अधिकार है। बेदखली को रोकने वाले कानूनों की प्रवंचना व्यापक रूप से देखने को मिली।
>
> " आंध्र प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, जम्मू और कश्मीर (छोटे काश्तकारों के संबंध में) और तमिलनाडू में जमींदार को दिया जाने वाला कानूनी लगान या फसल का हिस्सा अधिक ही था।"

1947-71 के दौरान 24 वर्षों की अवधि में कांग्रेस-सरकारों के प्रयत्न का लेखा-जोखा पहले ही दिया गया है फिर भी पाठक को यह विदित होगा कि विश्व-बैंक रिपोर्ट में उत्तर प्रदेश के भूमि-सुधार उपायों में किसी प्रकार की कमी का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

विश्व बैंक-रिपोर्ट में कम से कम चार कदम उठाने का सुझाव दिया गया है। पहला, काश्तकारों के अभिलेख तैयार करना, दूसरा, भूराजस्व के गुणज के रूप में नकद लगानों का निर्धारण; तीसरा, जमींदारों को व्यक्तिगत खेती के लिए भूमि के वापिस लिए जाने के अधिकार का उन्मूलन अथवा विरल दशाओं में ही भूमि वापिस किए जाने की अनुमति; और चौथा, काश्तकारों द्वारा समर्पित की जाने वाली भूमियों को नियमित करना। अन्यथा, रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि "इतनी जल्दी ऐसा समय आ रहा है जब ग्रामीण निर्धनता की समस्याओं का निराकरण नहीं हो सकता जिसका अंशतः कारण यह है कि उसके द्वारा देश की राजनीतिक स्थिरता पर भारी दबाव पड़ा है।"

योजना आयोग के भूमि-सुधार प्रभाग के अनुसार, जब यह बताना कठिन था कि 1971 में प्रस्तुत की गई विश्व-बैंक की रिपोर्ट के समय से काश्तकारी सुधारों से संबंधित कानूनी उपायों का कार्यान्वियन कहां तक किया गया है, यह बताना तर्कसम्मत है कि गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक और मणिपुर में काश्तकारी की प्रणाली सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए समाप्त कर दी गई है लेकिन अपवादस्वरूप उन भूस्वामियों को छोड़ दिया गया है जो अपंगुता से पीड़ित हैं अथवा फौज में सेवा करते हैं। यह प्रभाग इस स्थिति में नहीं है कि स्पष्ट रूप से कुछ कह सके, फिर भी, वास्तव में, यह शेष राज्यों के बारे में खामोश नहीं है। यह कहना अनावश्यक ही होगा कि उत्तर प्रदेश में सभी प्रकार के काश्तकार चाहे उनके नाम अभिलेखों में हों अथवा न हों, छठे दशक में ही स्थायी अधिकार प्राप्त कर चुके थे अर्थात् विश्व-बैंक की रिपोर्ट प्रस्तुत होने से पूर्व ही ऐसा हो चुका था।

आंध्र प्रदेश, बिहार, हरियाणा, पंजाब, त्रिपुरा और असम तथा पश्चिमी बंगाल के सीमित क्षेत्र को छोड़कर जमींदारों का यह अधिकार समाप्त हो चुका है कि वे अपनी भूमि फिर से वापिस ले लें। पश्चिमी बंगाल में बटाई पर खेती करने वालों की भूमि अब भी जमींदार वापिस करा सकते हैं। यह भूमि 3 हेक्टेयर तक हो सकती है और इसमें वह सभी भूमि भी शामिल है जो उसके पास पहले भी थी; बटाई पर खेती करने वाले के पास कम से कम एक एकड़ भूमि छोड़नी होगी क्योंकि एक एकड़ तक भूमि किसी भी दशा में वापिस की जाने वाली भूमि नहीं मानी जाती। अभी हाल ही में तत्संबंधी कानून में संशोधन किया गया है जिसके अन्तर्गत भूमि को वापिस कराने की शर्तें अपेक्षाकृत अधिक कठिन बना दी गई हैं और तब तक भूमि वापिस नहीं की जा सकती जब तक कि जमींदार की आय का मुख्य स्रोत कृषि ही न हो और जब तक वह जमींदार वर्ग के अधिक समय तक उसी स्थान पर न रहता हो जहां उसकी कृषि-योग्य भूमि है। असम में जमींदार को भूमि तभी वापिस की जाती है जब काश्तकार के पास 10 बीघा कृषि योग्य भूमि क्षेत्र रह जाय।

इसके अलावा, योजना आयोग के भूमि सुधार प्रभाग के अनुसार, देशभर में इस संबंध में विधायी कानून बना दिए गए हैं ताकि काश्तकारों को अपनी काश्त के

प्रति सुरक्षा उपलब्ध हो सके और उन्हें जो लगान देना है, वह नियमित किया जा सके। आंध्र प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, तमिलनाडू और पश्चिमी बंगाल को छोड़कर सभी राज्यों में उत्पाद का 1/4 अथवा 1/5 भाग तक सभी स्तरों पर लगान की अधिकतम दरें निर्धारित कर दी गई हैं। आंध्र प्रदेश में सकल उत्पाद के 25 से 30 प्रतिशत तक, और तमिलनाडू में 33⅓ प्रतिशत से 40 प्रतिशत तक सही लगान लिया जाता है। हरियाणा और पंजाब में सकल उत्पाद का 31⅓ प्रतिशत और पश्चिमी बंगाल में सकल उत्पाद का 25 से 50 प्रतिशत तक लगान लिया जाता है। उत्तर प्रदेश में भूतपूर्व काश्तकारों को स्थायी दाखिलकारों के रूप में उन्नत कर दिया गया है और उन्हें सरकार को वैसे ही लगान देने पड़ते हैं जो वे अपने जमींदारों को चुकाया करते थे, लेकिन शर्त यह है कि गत बन्दोबस्त की कार्रवाइयों के समय उनकी भूमि के कानूनी रूप से निर्धारित लगान से यह लगान दूनी राशि से अधिक नहीं होना चाहिए।

भूमि-सुधार प्रभाग का कहना है कि जहां तक अधिकारों के अभिलेखों का संबंध है उसकी स्थिति गत स्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्रों और कुछेक दक्षिणी क्षेत्रों में विशेषतया खराब थी। काश्तकारी, बटाई पर खेती और इसी प्रकार की अन्य व्यवस्थाएं अधिकांशतया मौखिक की जाती हैं जिसके कारण काश्तकारों में काफी हद तक असुरक्षा बनी रहती है। भूमि-सुधार प्रभाग का कहना है कि इस बात के लिए अधिक प्रयत्न किए गए हैं कि इन अभिलेखों को अद्यतन कर दिया जाय और इसके अलावा यह सुनिश्चित करा लिया जाय कि काश्तकारों के बटाई पर खेती करने वालों और अन्य असुरक्षित खेतिहरों के स्वामित्व और काश्तकारी के अधिकारों का उल्लेख उन अभिलेखों में कर दिया गया है, लेकिन इसका क्या प्रभाव होगा यह बताना कठिन है।

जहां तक अधिकतम सीमा लागू किए जाने के बाद उपलब्ध भूमि के वितरण का संबंध है, जुलाई, 1972 में आयोजित मुख्य मंत्रियों के सम्मेलन की सिफारिशों के आधार पर नया कानून अधिनियमित किया गया है जिससे इस स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया है। इस नीति की मुख्य विशेषताएं ये थीं : पांच सदस्यों के परिवार के लिए भूमि की अधिकतम सीमा कम कर दी गई, अधिकतम सीमा से कुछ किसान मुक्त कर दिए गए, पुराने भूस्वामियों को बाजार की दरों की अपेक्षा काफी कम दरों पर प्रतिकर के भुगतान की व्यवस्था की गई, कानून पूर्ण प्रभावी बनाए गए ताकि उन प्रभावों को अलग किया जा सके अथवा उनसे बचा जा सके जो कहीं अधिकतम सीमा के कानून को विफल न बना दें और स्पष्ट रूप से यह बता दिया गया कि भूमिहीन कृषि-कामगारों और विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों को बची हुई भूमि के वितरण में प्राथमिकता दी जायेगी। अब देश के सभी राज्यों में इस नीति के अनुसरण में मोटे तौर पर कानून अधिनियमित किए जा रहे हैं।

सरकारी आंकड़ों के अनुसार मार्च, 1979 के अन्त तक 52,75,000 एकड़ में से जो अतिरिक्त भूमि के रूप में अनुमानित की गई थी, केवल 40,66,000 एकड़ भूमि

वास्तव में अतिरिक्त भूमि थी और केवल 22,84,000 एकड़ भूमि ही सरकार के कब्जे में आ सकी। इस भूमि के क्षेत्रफल में से 15,89,000 एकड़ भूमि 10,90,500 व्यक्तियों में वितरित की गई जिनमें से 4,38,000 व्यक्ति अनुसूचित जातियों के थे और 1,41,000 व्यक्ति अनुसूचित जन-जातियों के थे जिन्हें 44 प्रतिशत कृषि भूमि मिली और अन्य व्यक्तियों को 56 प्रतिशत भूमि मिली। तथापि, गुजरात में 50,000 एकड़ भूमि, जो अतिरिक्त भूमि घोषित की गई थी, में से एक एकड़ भूमि भी मार्च, 1979 के अन्त तक वितरित नहीं की गई।

भूमि-सुधार कार्यक्रम का कुल मूल्यांकन यह बताएगा कि मध्यस्थ काश्तकारी के उन्मूलन के कानून किसी हद तक दक्षता से कार्यान्वित किए गए, लेकिन स्वतन्त्रता से पूर्व की दशाब्दियों में काश्तकारी के सम्बन्ध में जो कानून बनाए गए थे उनके फलस्वरूप उच्च प्रकार के किसान पहले से ही काश्तकारी की सुरक्षा और स्थायी लगान का लाभ उठा रहे थे। यह विवादास्पद बात है कि क्या उन मध्यस्थ हितों का उन्मूलन, जिन्हें उस अधिकार से जोड़ दिया गया था जो जमींदारों को अपनी खेती करने के लिए काश्तकारों से भूमि वापिस कराने के लिए था, काश्तकारों को नए आर्थिक लाभ प्रदान कर सका। कोई काश्तकारी सुधार नहीं हुआ : जैसाकि पाठक ने पूर्व पृष्ठों में अध्ययन किया है कि अधिकांश मामलों में जहां भूमि उन काश्तकारों के पास थी जिनके पास उस भूमि का कब्ज़ा नहीं था, अथवा उन काश्तकारों के पास भी जिनके घरेलू फार्म थे अथवा जमींदारों की 'सीर' भूमि जो बटाई पर खेती करने वालों या उपकाश्तकारों के पास थी। इन सभी काश्तकारों को अपनी जोतों से सरसरी तौर पर निकाल बाहर किया गया। उन सभी व्यक्तियों के बारे में भी विचार नहीं किया गया कि जिन्हें गांव के अभिलेखकर्ता ने अनधिकृत व्यक्तियों के रूप में लिख लिया था या बिल्कुल ही नहीं लिखा था। देश के अधिकांश हिस्सों में आज भी बटाई पर खेती करने के ढंग की काश्त का अधिक शोषण किया जा रहा है। लेखक के मतानुसार तथाकथित भूमि-सुधारों के फलस्वरूप किसानों को लाभ होने की बजाय किसान स्वयं एक वर्ग के रूप में नहीं रहे।

भूमि-सुधार के क्षेत्र में बहुत ही कम काम होने का मुख्य कारण उस सत्ता में निहित है जो अंग्रेजों के देश छोड़ देने के बाद हमें मिली है। हमारे संविधान में राजनीतिक लोकतंत्र की सबसे पूर्ण अभिव्यक्ति होने और समय-समय पर सामाजिक और आर्थिक क्रांति के पक्ष में जोरदार घोषणाएं अथवा अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक समानता होने पर भी हमारे देश में राजनीतिक सत्ता उन विशेष अधिकार-प्राप्त लोगों के दलों के हाथ में रही जिनमें सर्वप्रथम बड़े-बड़े जमींदार, बड़े-बड़े सौदागर अथवा उद्योगपति और उच्च सिविल अधिकारी शामिल थे : दूसरे प्रकार के दल साधारणतया 'मध्यम वर्ग' के लोग हैं जो सामान्यतया सभी 'शिक्षित' लोगों को शामिल मानते हैं और वास्तव में वे बहुत ही गरीब लोगों के जनसमुदाय से कहीं ऊपर हैं।

वॉल्फ लेर्डजिस्की ने, अपनी रिपोर्ट में 7वें दशक में योजना आयोग को बताया है :

"अधिकतम भूमि की सीमा के बारे में कोई भी वाद-विवाद नहीं है लेकिन तथ्य यह है कि भारत में धनी और सम्पन्न फार्मों के लोगों के दल केन्द्र और राज्य सरकारों में कांग्रेस पार्टी की आंतरिक परिषदों में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और यह महत्व चुनाव के दिन और भी बढ़ जाता है...। यद्यपि ऐसे कम ही लोग हैं जो अधिकतम भूमि-सीमा के अन्तर्गत आते हों फिर भी सत्ता की स्थानीय सीटों पर उन्हीं का नियन्त्रण होता है और इसके अलावा कुछ और भी अभाव हैं...तथाकथित 'मतदान बैंक' उन्हीं लोगों से अभी तक नियंत्रित किए जाते हैं जैसाकि इस तथ्य से स्पष्ट है कि (1962-67 में) पंजाब विधान सभा में 64 सदस्यों में से 45 सदस्य बड़े-बड़े भूस्वामी हैं। हरियाणा में 52 में से 30 और मध्य प्रदेश में से 220 कांग्रेस विधायकों में से 96 विधायक हैं जिनके सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि उनके पास कहीं अधिक भूमि है जो घोषित की गई अधिकतम भूमि की सीमा से अधिक है। अन्य कई राज्यों में भी मोटे तौर पर यही स्थिति है।"

वर्तमान लोक सभा के सदस्यों का 1980 के प्रथम सप्ताह में चुनाव हुआ था। इन सदस्यों में से 350 कांग्रेस सांसद हैं, जिनमें से 80 से अधिक राजकुमार अथवा बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के मालिक हैं।

बिहार में इस विषय में उत्कृष्ट उदाहरण मिल जाता है। बोधगया के महंत, जो शंकराचार्य पीठ के हैं, उनके पास राज्य के 31 जिलों में से 12 जिलों में इतनी अधिक भूमि है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती। उनके पास बड़ी संख्या में संन्यासी शिष्य, नौकर और शिकारी हैं जो उनके कृषि-कार्य को सम्पन्न करते हैं। उनकी कृषि योग्य भूमि का कुल उत्पाद उनके मठ को मिल जाता है।

फिर भी कानूनी तकनीकियों के हिसाब से उनके पास मुश्किल से 25 एकड़ भूमि है। हजारों एकड़ भूमि संन्यासियों और नौकरों के अधिकार में है और वे ही उनका उपयोग करते हैं। इसके अलावा उस भूमि के अधिकारी और प्रयोगकर्ता ऐसे हजारों देवता और देवियां हैं जो अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, अथवा अस्तित्वहीन हैं अथवा अलौकिक हैं। अधिकतम भूमि की सीमा से बचने के लिए महंत ने अपनी कुल जोत को 1961 के अधिकतम भूमि अधिनियम लागू होने की सात वर्ष की अवधि में 680 व्यक्तियों में वितरित कर दी है, फिर भी राज्य सरकार ने अतिरिक्त भूमि को प्राप्त करने के लिए कदम नहीं उठाए हैं।

जिला प्रशासन ने बहुत पहले महंत की भूमि के 680 दावेदारों को इस कानून के अन्तर्गत नोटिस दिए हैं। इनमें से 253 ने अभी तक अपनी आपत्तियों के आवेदन नहीं दिए हैं। इतना होते हुए भी उनकी जोतों को सरकार ने नहीं लिया।

फिर भी बोधगया का मामला बिहार में केवल एक नमूना है। इससे उस भाईचारे पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है जहां राजनीतिज्ञों, सरकारी कर्मचारियों और गांव के वैभवशाली लोगों ने गठबंधन स्थापित कर लिया है ताकि वे

इस राज्य में ग्रामीण संरचना के पुनर्गठन को विफल करा दें।

'टाइम्स आफ इंडिया', नई दिल्ली, 12 जनवरी, 1981 में प्रकाशित अपने लेख में श्री एन० एस० सक्सेना ने बताया कि "बिहार में काफी हद तक ग्रामीण क्षेत्रों में अराजकता का कारण यह है कि वहां भूमि-सुधारों के कार्यान्वयन में कोई प्रगति नहीं हुई है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वरिष्ठ भारतीय प्रशासन सेवा, भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी भी जातिवाद के आधार पर जमींदार वर्ग के साथ मिल गए हैं। अधिकांश दलों के राजनीतिज्ञों ने भी इसी प्रकार की सांठ-गांठ कर रखी है। बिहार में नकसलवादी समस्या का मुख्य कारण भूमि-सुधार का कार्यान्वयन करना ही है। अब इसमें राजनीति और चुनाव भी अपने दांव-पेच लगाते हैं। 1978 में एक मंत्री ने सरल रूप से राज्य विधान सभा में यह स्वीकार किया कि वह चुनाव लड़ने के लिए गुण्डों को प्रश्रय देते हैं। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह भी कहा कि सभी राजनीतिज्ञ ऐसा करते हैं, चाहे वे इसे स्वीकार करें या न करें।"

'धनी और वैभवशाली फार्म समूहों' ने किस प्रकार क्या काम किए हैं इसके भी कतिपय उदाहरण दे दिए जाएं : 1974 में आंध्र प्रदेश में काश्तकारी नियमों में कतिपय संशोधन किए गए, जिनका उद्देश्य यह था कि काश्तकारों की दशा में सुधार किया जाए, लेकिन केन्द्र सरकार के बार-बार निवेदन करने के बावजूद अभी तक उनमें कोई सुधार नहीं हुआ है। तमिलनाडू सरकार ने काश्तकारों द्वारा देय लगानों को अभी तक कम नहीं किया है। पंजाब में राज्य सरकार ने उच्च न्यायालय के उस फैसले के विरोध में अपील करने से इन्कार कर दिया है, जिसमें जमींदारों के कतिपय दावे सही बता दिए थे। जैसा कि पाठक को पहले ही विदित है कि गुजरात में राज्य सरकार ने उस अतिरिक्त भूमि का वितरण बन्द कर दिया है जो भूमि की अधिकतम सीमा लगाने के बाद उपलब्ध हो चुकी थी, और उस वर्तमान कानून को भी लगाने से इन्कार कर दिया है जो इस प्रकार के भूमि-वितरण को अधिदेशात्मक बना देता है।

1972 में कृषि संबंधों के लिए 10 सदस्यों का कार्यकारी दल नियुक्त किया गया था जिसने कतिपय विचार व्यक्त किए थे जिनका इन सभी उदाहरणों से समर्थन होता है। इस दल के तत्कालीन भूमि-सुधार आयुक्त श्री पी० एस० अप्पू अध्यक्ष थे। इस दल ने मार्च, 1973 में योजना-आयोग को रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें बताया गया है कि :

> "भूमि-सुधार के प्रगतिशील कानूनों का अधिनियम और उनके दक्षतापूर्वक कार्यान्वयन के लिए राजनीतिक निर्णयों और राजनीतिक प्रभावकारी सहायता, निदेश और नियंत्रण की आवश्यकता है। देश में ग्रामीण क्षेत्रों की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में अपेक्षित राजनीतिक इच्छा के अभाव में भूमि-सुधार के क्षेत्र में किसी भी उल्लेखनीय प्रगति की आशा नहीं की जा सकती। दुःखद बात यह है कि इस आवश्यक कारक का अभाव रहा है।

"नीति और कानून तथा कानून और उसके कार्यान्वयन में भारी खाई होने की वजह से राजनीतिक इच्छा का अभाव अधिकांशतया विदित हो जाएगा। स्वतंत्रता प्राप्त करने के समय से हमारे देश में सार्वजनिक कार्यकलाप के क्षेत्र में सिद्धान्त और व्यवहार, नीति-घोषणाएं और उनके वास्तविक निष्पादन की विवृत्ति उतनी अधिक किसी भी क्षेत्र में नहीं हुई है जितनी कि कृषि-सुधार के क्षेत्र में हुई है।

"दृढ़ और स्पष्ट राजनीतिक इच्छा से सभी प्रकार के अभाव और कठिनाईयों पर विजय प्राप्त की जा सकती है और यदि ऐसी इच्छा शक्ति का अभाव हो तो छोटी-छोटी बाधाएं भी भारतीय भूमि-सुधार के मार्ग में मजबूत अवरोध बन जाती हैं। इस देश में जो राजनीतिक सत्ता संरचना है उसकी विशेषताओं पर विचार करते हुए यह कहना स्वाभाविक ही है कि वांछनीय राजनीतिक इच्छा शक्ति सुलभ नहीं हो पाई है।"

इस कृत्यकबल की ऊपर दी गई टीका-टिप्पणी की पुष्टि वॉल्फ़ लेडजिंस्की द्वारा की गई है। वाल्फ़ लेडजिंस्की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त एक कृषि-विशेषज्ञ हैं। श्री वॉल्फ़ लेडजिंस्की ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों में भूमि-सुधार कानून के बारे में 9 सितम्बर, 1964 के 'टाइम्स आफ इंडिया' में प्रकाशित एक लेख में विशद विवेचन किया है और इसी लेख में उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है :

"सुधारों के कार्यान्वयन के लिए प्रशासकीय समस्याएं ठोस बाधा हैं। दूसरी ओर, भारत में सबसे अधिक बड़े और सबसे अधिक जनसंख्या वाले राज्य उत्तर प्रदेश को अनुभव के आधार पर देखा जाए तो यह कोई कानूनी कठिनाई नहीं है यदि इसे जीतने की उनकी इच्छा है। विशेष रूप से यही कहा जा सकता है कि कई विधायकी कानूनों में दोषपूर्ण सामग्री दी गई है।"

भूमि का पुनर्वितरण

गत पृष्ठों में जो कुछ भी कहा गया है और सम्पत्ति तथा आय की असमानताओं को दूर करने के हमारे उद्देश्य के संदर्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि भूमि के पुनर्वितरण की मांग की जांच की जाए, यद्यपि इतिहास की इस अवस्था में, भूमि के कब्ज़े के बारे में अधिकतम भूमि का नया कानून बन रहा है जो पुराने कानून का क्रांतिकारी संशोधन है। यह पुराना कानून लगभग दस वर्ष पूर्व सभी राज्यों में अधिनियमित किया गया था। इस नये कानून को पहले ही कानून की किताब में रख लिया गया है। अब प्रश्न व्यावहारिक उपयोगिता की अपेक्षा शास्त्रीय अभिरुचि का अधिक है।

आज भारत में जहां लगभग 80 प्रतिशत लोग गांवों में रहते हैं जहां हमारे देश में कुल पुरुष कामगारों में 68 प्रतिशत लोग सीधे ही भूमि के कामों में लगे हुए

हैं और जहां हमारे देश की लगभग 45 प्रतिशत राष्ट्रीय आय कृषि और अन्य सह-सम्बन्धित कार्यों से होती है वहां अधिकांश में भूमि ही हमारे समाज में आदमी की प्रतिष्ठा बनती है। इसके अलावा भूमि की सीमाएं हैं और आदमी कुछ ही क्यों न करे भूमि बढ़ाई नहीं जा सकती लेकिन सबसे अधिक लाभ यह है कि उसे अधिक अच्छा बनाया जा सकता है और भूमि के उपयुक्त प्रयोग से भूमि अपेक्षाकृत अधिक अच्छी हो जाती है। अन्य सभी प्रकार की पूंजी के रूप, यथा—मकान, कारखाने, लोकोमोटिव, युद्धपोत आदि, क्षीण हो जाते हैं या अलग-अलग हो जाते हैं और अन्ततोगत्वा नष्ट हो जाते हैं, चाहे उन्हें कितनी हो सावधानी से काम में क्यों न लाया जाए लेकिन भूमि नष्ट नहीं होती। भूमि की निरन्तर जीवंतता ही उस भूमि में काम करने वाले लोगों को सीधे ही सुरक्षा की भावना प्रदान करती हैं जो अन्य किसी भी व्यवसाय से प्राप्त नहीं हो सकती। भूमि से कभी भी आदमी का मोह-भंग नहीं होता। भविष्य में सदैव ही अधिक भूमि प्राप्त करने की आशा बनी रहती है जो कि विरल रूप में ही पूरी हो पाती है। इसलिए यह बात समझने योग्य है कि हमारे देश में भूमि के स्वामित्व के लिए बहुत हायतोबा, यहां तक कि छीना-झपटी होती रही है।

जैसा कि पाठक ने पहले ही गत अध्याय के उपभाग में देखा है कि सातवें दशक में इस देश के खेतिहरों की संख्या 51.10 प्रतिशत से घटकर 43.34 प्रतिशत रह गई और कृषि मजदूरों की संख्या 16.87 से बढ़कर 26.38 प्रतिशत हो गई है। यह भी उल्लेखनीय है कि 10 हेक्टेयर से अधिक फार्म 1961-62 में 23 लाख से बढ़कर 1970-71 में 28 लाख हो चुके हैं और औसत फार्म का क्षेत्रफल 17 हेक्टेयर से बढ़कर 18 हेक्टेयर हो गया है। इसके परिणामस्वरूप जबकि 1961-62 में इन बड़े-बड़े फार्मों में कुल 387 लाख हेक्टेयर अर्थात् 28.9 प्रतिशत भूमि थी जो 1970-71 में 500 लाख हेक्टेयर अर्थात् 30.8 प्रतिशत भूमि हो गई, जबकि देश में फार्मों की कुल संख्या केवल 3.9 प्रतिशत रही।

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश की सामाजिक व्यवस्था, विशेषतया जहां जनसंख्या का अधिक प्रतिशत भूमि पर सीधे ही काम करके अपनी जीविका चलाता है वहां भूमि की काश्तकारी पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है, इस बात पर भी निर्भर है कि भूमि का किस प्रकार उपयोग होता है। एक उचित समान व्यवस्था के लिए स्पष्टतया भूमि के उचित वितरण की आवश्यकता है और यह भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है।

इसके विपरीत भी राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक था कि बड़े-बड़े फार्म सम्बद्ध किए जाएं, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि इन फार्मों से अपेक्षाकृत कम सम्पत्ति उत्पन्न होती है और छोटे फार्मों की अपेक्षा प्रति एकड़ अपेक्षाकृत कम रोजगार उपलब्ध हो पाते हैं। इसके अलावा ऐसे देश में जहां कि भूमि बहुत कम है, अर्थात् इतनी कम है कि औसतन खेती करने वाले प्रति परिवार के लिए केवल 6.0 एकड़ भूमि मिल पाती है, बड़े-बड़े फार्मों ने स्पष्टतया एक आदमी और दूसरे आदमी के बीच आर्थिक असमानताएं पैदा कर दी हैं और इस प्रकार हमारे देश की लोकतंत्रात्मक शक्तियों

को कम कर दिया है।

छोटे आकार के फार्म के पक्ष में दो तर्कों पर बल देते हुए, जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है। कृषि और भूमि-सुधार आयुक्त और संयुक्त सचिव पी० एस० अप्पू ने अप्रैल, 1971 में भारत सरकार को प्रस्तुत की गई 'सीलिंग ऑन लार्ज होल्डिंग्स' नामक अपनी रिपोर्ट में कहा है :

> "एक दृष्टिकोण यह है कि अधिक जनसंख्या वाले और उत्पादनशील रोजगार के अपर्याप्त साधनों वाले देशों, यथा—भारत में, निचले स्तरों पर कृषि जोतों की सीमा के निर्धारण और अतिरिक्त भूमि के पुनर्वितरण से यह संभावना है कि कुल मिलाकर कृषि उत्पादन बढ़ जाएगा और उपलब्ध मानव-शक्ति का भरपूर उपयोग हो सकेगा। इन दोनों परिणामों का स्पष्टीकरण यह है कि सामान्यतया बड़ी जोतों के स्वामी मजदूरों पर आश्रित होते हैं, अतः वे उस सीमा तक ही मजदूरों को काम पर लगाएंगे जब तक कि अंतिम मजदूर रखने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि मजदूरी-स्तर से कुछ न कुछ अधिक हो। ऐसा कोई विचार उन छोटी-छोटी जोतों के बारे में नहीं है जो सामान्यतया परिवार के श्रम से परिचालित होती हैं। रोजगार का कोई वैकल्पिक स्रोत न होने के कारण परिवार के सदस्य ही श्रमिक के रूप में काम पर लगे रहते हैं और वे उस सीमा के परे तक काम करते रहते हैं जबकि प्रत्येक श्रमिक की उत्पादन इकाई मजदूरी-स्तर के बराबर होती है। वास्तव में जब तक अधिक उत्पादन की आशा होती है परिवार के अतिरिक्त श्रमिक भी काम पर लगे रहते हैं। इस प्रकार छोटी जोत में सघनता से अधिक खेती की जाती है जिससे कुल मिलाकर अधिक उत्पादन होता है। इसके साथ ही साथ उपलब्ध मानव शक्ति का भी भरपूर उपयोग होता है।"

प्रायः यह अनुमान लगाया गया है कि आर्थिक संवृद्धि और सामाजिक न्याय अथवा अधिक आर्थिक समता के दोनों लक्ष्यों में विरोध है। लेकिन इसका कोई आधार नहीं है, यहां तक कि कृषि उत्पादन के क्षेत्र में ऐसा नहीं है। इसकी अपेक्षा हम पहले ही देख चुके हैं कि उनमें पहले ही संगति है यदि भूमि के वितरण में अधिक समानता होगी तो देश भर में अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक संवृद्धि होगी।

कभी-कभी यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि छोटे किसान बचत कर लेते हैं और अपनी आय के कुछ अंश का निवेश कर देते हैं। इस प्रकार का पुनर्वितरण कृषि क्षेत्रक में कुल बचतों पर हानिकारक प्रभाव डालता है। लेकिन कुल बचतों पर इसका प्रभाव आवश्यक रूप से विपरीत नहीं होता क्योंकि अधिक संख्या में छोटे-छोटे किसानों द्वारा अलग-अलग व्यक्तियों को छोटी-छोटी बचतें कुछ बड़े-बड़े किसानों की निरपेक्ष बचतों के ह्रास का प्रतिकार कर सकती हैं। एक ऐसे संगठन और संस्थाओं के विकास की आवश्यकता है जो ग्रामीण बचतों को अभिप्रेरित कर सकें। कोरिया और ताइवान के अनुभव से यह विदित होता है कि अपेक्षाकृत अधिक

उपयुक्त ब्याज की दर की नीति ने ग्रामीण बचतों और निवेश को प्रोत्साहन दिया है और इससे ग्रामीण बचतों पर उल्लेखनीय धनात्मक प्रभाव हो सकता है।

परन्तु एक दूसरा भी तर्क है जो वर्तमान बातों की अधिकतम सीमा के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् न्यायोचित बनने के लिए हमें कृषीतर आय की सीमा भी बना लेनी चाहिए अन्यथा हम ग्रामीण सम्पत्ति के बड़े-बड़े स्वामियों के विरुद्ध पक्षपात करेंगे और शहरी धनिकों के पक्ष में रहकर अपराधी होंगे। लेकिन इस तर्क में इस बात का उल्लेख नहीं है कि आदमी भूमि पैदा नहीं कर सकता, जबकि वह अन्य प्रकार की पूंजी उत्पन्न कर सकता है। बड़े-बड़े किसान उस भूमि को हथिया कर, जो उनके हिस्से में नहीं आती हो, राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं बढ़ा सकते जबकि एक उद्योगपति या कृषीतर सम्पत्ति का मालिक किसी कारखाने या उद्यम को स्थापित करके वह सब कुछ उत्पन्न कर सकता है जो पहले, विद्यमान नहीं था। दूसरे, हमारी परिस्थितियों में भूमि ही ऐसी है जो सीमित कारक है जबकि उत्पादन के अन्य दो कारकों में, जिनका संबंध कृषीतर उद्यमों से है, श्रमिकों की संख्या हमारी आवश्यकताओं से अधिक हो जाती है और पूंजी, यद्यपि हमारी आवश्यकता की तुलना में उसका अभाव बना रहता है, अन्ततोगत्वा उतनी सीमित नहीं होती जितनी कि भूमि सीमित होती है।

फिर भी यह सब कुछ एक तर्क ही है। हम सभी उन संभव तरीकों के पक्ष में हैं जो राष्ट्र के हित में तालमेल बिठाते हैं और जिनसे कृषीतर क्षेत्रों में सम्पत्ति को केंद्रित नहीं होने दिया जाता तथा उसको फिर से नहीं उभरने दिया जाता।

जो व्यक्ति हमारे देश में एक आदमी और दूसरे आदमी के बीच में बढ़ती हुई आर्थिक खाई को कम करने के लिए प्रभावकारी कदम और ठोस काम करने का विरोध करते हैं उन्हें यह महसूस करना चाहिए कि यदि वर्तमान स्थिति में ही बाजार चलाया जाता रहा (अथवा जिन्हें प्राकृतिक आर्थिक शक्तियां कहा जाता है), तो उनसे इस माने में खराब ही परिणाम होगा कि उस व्यक्ति को अधिक मिलेगा जिसके पास अधिक है और उस व्यक्ति से वह सब छिन जाएगा जिसके पास बहुत कम है। इसका परिणाम होगा कि धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन होते जाएंगे। इसलिए 'प्रकृति' के विरुद्ध दखलनदाजी की अत्यंत आवश्यकता है। या तो धनी वर्ग के लोग अपनी स्वेच्छा से गरीबों की सहायता करें अथवा गरीब वर्ग के लोग ही ऐसे रास्ते निकाल लें जिनसे धनी वर्ग के लोगों को सबसे अधिक यह उपयुक्त लगने लगे कि उन्हें गरीबों की सहायता करनी है। राष्ट्रपति कैनेडी ने एक बार कहा था : "यदि स्वतंत्र समाज उन सभी व्यक्तियों की सहायता नहीं कर सकता जो गरीब हैं तो वह समाज उन थोड़े व्यक्तियों को भी नहीं बचा सकता जो धनी हैं।" यह महसूस करना चाहिए कि यदि असमानता और बेरोजगारी को कम नहीं किया जाता, तो नकसलवादी धारा अधिक लोकप्रिय हो जाएगी।

महात्मा गांधी ने कहा था, "एक दिन हिंसात्मक खूनी क्रांति अवश्यंभावी है जब तक कि स्वेच्छा से धन और धन से प्राप्त होने वाली शक्ति को छोड़ न दिया जाए

और उनका उपयोग सर्वहित के लिए न किया जाए।"

महात्मा जी के इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि साम्यवाद उन्हीं राज्यों में ही पनपा है जैसा कि 1971 की जनगणना रिपोर्ट में दिया गया है, जहां अन्य राज्यों की अपेक्षा खेतिहरों की तुलना में कृषि श्रमिकों का प्रतिशत अधिक हुआ है।

तालिका 47

राज्य	श्रमिकों की प्रतिशतता	राज्य	श्रमिकों की प्रतिशतता
केरल	172	गुजरात	52
आंध्र प्रदेश	118	मध्यप्रदेश	50
तमिलनाडू	97	पंजाब	50
बिहार	90	उत्तरप्रदेश	35
पश्चिमी बंगाल	83	हरियाणा	33
महाराष्ट्र	83	आसाम	18
कर्नाटक	67	राजस्थान	14
उड़ीसा	58		

1960 में या उसके आस-पास प्राय: प्रत्येक राज्य में भूमि की अधिकतम सीमा और अतिरिक्त भूमि के पुर्नवितरण के संबंध में कतिपय प्रतिबंधों के साथ कानून अधिनियमित किए गए थे, लेकिन अधिकांश राज्यों में कांग्रेस नेतृत्व ने कम अधिकार-प्राप्त और थके-मांदे व्यक्तियों के साथ सहानुभूति नहीं दिखाई, जिसका परिणाम यह हुआ कि योजना आयोग और जनवरी, 1959 में आयोजित नागपुर अधिवेशन में पारित कांग्रेस संकल्प की सिफारिशों को आगे बढ़ाने के लिए जो कानून अधिनियमित किए गए थे वे बहुत ही दोषपूर्ण रह गए। जबकि वे धाराएं जिनका संबंध अधिकतम सीमाओं (चाहे वे किसी व्यक्ति अथवा परिवार पर ही क्यों न लागू हों), अन्तरण, विभाजन और छूट से रहा हो, राज्य-प्रतिराज्य में काफी अलग-अलग रहीं और उन धाराओं को ऐसा रूप दिया गया कि वे पुर्नवितरण के लिए अधिक भूमि उपलब्ध नहीं हो सकी। उदाहरण के लिए, बिहार और मध्य प्रदेश में परिवार के प्रति व्यक्ति के लिए अधिकतम भूमि-सीमा क्रमश: 20 से 60 और 25 से 75 एकड़ तक निर्धारित की गई थी। इन दोनों राज्यों में कानून में यह व्यवस्था की गई कि इस कानून के प्रभावकारी होने के बहुत समय बाद तक हस्तांतरण को मान्यता दी गई। पंजाब और हरियाणा में स्वामित्व के लिए कोई भी सीमा निर्धारित नहीं की गई। राज्य सरकारें उस अतिरिक्त भूमि पर काश्तकारों को बसा सकीं जो जमींदार के स्वामित्व में बराबर बनी रही। उड़ीसा और मणिपुर में अधिकतम सीमा के संबंध में जो कानून अधिनियमित किया गया वह अभी तक लागू नहीं किया गया है। श्री लेर्डजिस्की ने जो अध्ययन किया है उससे यह विदित होता है कि वर्ष 1960 और 1970 के मध्य की अवधि में मैसूर, केरल और उड़ीसा में अधिकतम भूमि के कानून होते हुए भी भूमि के पुर्नवितरण के लिए 'अतिरिक्त' एक एकड़ भूमि भी नहीं मिली। आंध्र प्रदेश में कुल मिलाकर केवल

1,400 एकड़ भूमि ली गई और उसमें से एक एकड़ का भी वितरण नहीं हुआ तथा तमिलनाडू में इसका निष्पादन अपेक्षाकृत कुछ अच्छा रहा है।

इस सभी स्थिति की पुनरवलोकन करते हुए चौथी पंचवर्षीय योजना में कहा गया है : "आज जो कानून विद्यमान हैं उनको प्रभावकारी ढंग से न तो आगे बढ़ाया गया है और न उनका कार्यान्वयन किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि राज्य सरकारों के कब्ज़े में लगभग 9,64,000 हेक्टेयर भूमि आ सकी है जबकि कुछ राज्यों यथा आंध्र प्रदेश का यह निर्णय है कि अतिरिक्त भूमि पर तभी कब्ज़ा किया जाएगा जब उस भूमि की क्षतिपूर्ति की अदाएगी के लिए राशियां उपलब्ध हों। अन्य राज्यों, यथा—पश्चिमी बंगाल और गुजरात, में यह काम रोक दिया गया है क्योंकि काफी संख्या में भूस्वामियों ने बेदखली कराने का काम शुरू करा दिया है। अतिरिक्त भूमि के वितरण का कार्यक्रम अभी हाल ही के वर्षों में कई राज्यों में हाथ में ले लिया गया है लेकिन अधिकांश राज्यों में अभी भी स्थिति यह है कि कब्जे में ली गई भूमि और वितरित की गई भूमि में भारी अन्तर है, केवल 4,64,176 हेक्टेयर भूमि का अंतिम रूप से वितरण किया गया है।"

1960 में या इसी के लगभग भूमि की अधिकतम सीमा के संबंध में जो कानून अधिनियमित किए गए उसके बाद काफी समय बीत चुका है। इससे इस कानून के संशोधन और अधिकतम सीमा को कम करने के पक्ष में दूसरा तर्क दिया जा सकता है, अर्थात् सातवें दशक में कृषि-उत्पादन की स्थिति लगभग क्रांतिकारी हो चुकी है। 'हरित क्रांति' से यह स्पष्ट है कि कृषि औद्योगिकी में जो उन्नति की गई उससे यह संभव हो गया कि दुगुनी या तिगुनी तक कृषि-उपज बढ़े। बहुआयामी और प्रसारित फसलों के प्रयोग भारतीय कृषि शोध संस्थान में किए गए। उनसे यह पता लगा है कि एक वर्ष में ही प्रति एकड़ 15 टन खाद्यान्न पैदा किया जा सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि कई जोतें जो कुछ वर्ष पूर्व बंजर अथवा खर्चीली समझी जाती थीं, वे आज ऐसी नहीं मानी जातीं। इसलिए केंद्र सरकार के खाद्य और कृषि मंत्री ने 28 और 29 नवम्बर, 1969 को आयोजित मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा था, "जब सिंचाई-साधनों की सहायता से 3 से 5 एकड़ की जोत अंकुरणक्षम हैं, तब ऐसी स्थिति में बड़े-बड़े आकार की जोतों को बनाए रखना न्यायसंगत नहीं है, जबकि भूमिहीन कृषि मजदूरों की काफी संख्या है और उन्हें कृषीतर रोजगारों में लगाने की संभावनाएं बहुत कम हैं। हमारे ग्रामीण समाज में ग्रामीण गरीब और पिछड़े वर्गों ने काफी समय तक अधीनता स्वीकार की है और वे इस स्थिति के साथ और अधिक समय तक समझौता नहीं कर सकते।" इसलिए 1972-73 में राज्यों में नया कानून अधिनियमित किया गया।

वास्तव में वितरण के लिए कितनी भूमि उपलब्ध हो सकती है, यह इस बात पर निर्भर है कि कितने क्षेत्र पर एक कामगार खेती करने में लगा हुआ है अथवा एक कृषि परिवार कितना कृषि-क्षेत्रफल अपने हाथ में लिए हुए है और उन बड़ी जोतों की कितनी संख्या है जो आज भी विद्यमान हैं। संभावित अतिरिक्त भूक्षेत्र, औसत

जोत का आकार और भूमि की मांग का आयाम भी प्रत्येक राज्य में काफी अलग-अलग है। तालिका 48 में इन तीनों बातों के विषय में स्थिति स्पष्ट होगी :

तालिका 48

राज्य	खेती में लगे प्रति मजदूर का औसतन निवल क्षत्र (1966-67 में हेक्टेयरों में)	1960-61 में उन परिवारों की संख्या जिनके हाथ में जोत है		कृषि मजदूरों की तुलना में खेतिहरों के भाग की प्रतिशतता
		6 हेक्टेयर (15 एकड़ से अधिक)	12 हेक्टेयर (30 एकड़ से अधिक)	
आंध्र प्रदेश	2.38	13.5	4.5	76
आसाम	1.03	4.0	0.5	07
बिहार	1.03	6.0	0.5	41
गुजरात	3.05	27.0	10.0	30
हरियाणा	2.73	—	—	13
केरल	2.03	1.0	0.2	90
मध्य प्रदेश	2.63	20.0	6.0	29
महाराष्ट्र	3.7	28.0	10.6	51
मैसूर	2.77	20.0	7.0	28
उड़ीसा	1.86	6.0	1.0	24
पंजाब	2.3	31.0	9.0	24
राजस्थान	3.2	32.0	14.0	07
तमिलनाडू	1.5	5.0	1.0	47
उत्तर प्रदेश	1.2	6.0	1.0	16
पश्चिमी बंगाल	1.44	3.5	0.4	41

टिप्पणियां ।

1. स्तंभ दो में दिए गए आंकड़ों का संबंध प्रति कामगार औसत निवल क्षेत्रफल से है। ये आंकड़े 'बुलेटिन ऑफ एग्रीकल्चरल इस्टैटिस्टिक्स' (कृषि आंकड़ों का बुलेटिन) 1968-69 से लिए गए हैं। उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के संबंध में जो आंकड़े हैं वे वर्ष 1964-65 के हैं और गुजरात तथा महाराष्ट्र के संबंध में जो आंकड़े हैं वे वर्ष 1965-66 के हैं।
2. स्तंभ 3 और 4 में जो आंकड़े दिए गए हैं वे 1961 में जनगणना के समय नमूने के तौर पर 20 प्रतिशत परिवारों के सर्वेक्षण पर आधारित हैं। पंजाब के संबंध में जो आंकड़े दिए गए हैं वे उस अवधि के हैं जब हरियाणा उसमें शामिल था।

यह स्पष्ट था कि भूमि का पुर्नवितरण लाभप्रद रूप से कम से कम आंध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर या कर्नाटक, पंजाब, हरियाणा और राजस्थान राज्यों में किया जा सकता है।

इस निष्कर्ष की उन नवीनतम आंकड़ों से पुष्टि की गई थी जो कृषि जनगणना

की अखिल भारतीय रिपोर्ट, भारत सरकार, 1970-71, तालिका संख्या 9.1, पृष्ठ 41 पर द्रष्टव्य हैं।

तालिका 49

1970-71 में परिचालित जोतों की संख्या और उनका क्षेत्रफल

क्रम संख्या		संख्या .000	प्रतिशत	क्षेत्रफल ,000 हेक्टेयर	प्रतिशत	जोत का आकार (हेक्टेयर)
1	2	3	4	5	6	7
1.	उत्तर प्रदेश	15639	22.2	18158	11.2	1 16
2.	बिहार	7577	10.7	11480	7.0	1.52
3.	आंध्र प्रदेश	5420	7.7	13585	8.4	2.51
4.	तमिलनाडू	5314	7.5	7709	4.3	1.45
5.	मध्य प्रदेश	5299	7.5	21194	13.1	4.00
6.	महाराष्ट्र	4951	7.0	21179	13.1	4.28
7.	पश्चिमी बंगाल	4216	6.0	5062	3.1	1.20
8.	राजस्थान	3727	5.3	20341	12.5	5.46
9.	कर्नाटक	4551	5.0	11368	7.0	3.20
10.	उड़ीसा	3407	4.8	6449	4.0	1.89
11.	गुजरात	2433	3.4	10000	6.2	4.11
12.	केरल	2305	3.3	1593	1.0	0.70
13.	आसाम	1964	2.8	2883	1.3	1.47
14.	पंजाब	1375	2.0	3974	2.4	2.89
15.	हरियाणा	913	1.3	3447	2.1	3.78
16.	जम्मू और कश्मीर	979	1.4	916	0.6	0.94
17.	हिमाचल प्रदेश	609	0.9	931	0.6	1.53
18.	अन्य राज्य और संघीय राज्य क्षेत्र	814	1.2	1854	1.1	2.28
	अखिल भारतीय	70493	100.0	162124	100.0	2.30

गत पृष्ठों में जो कुछ भी कहा है, उसके परिप्रेक्ष्य में भारत के एक फार्म का आदर्श आकार अथवा सीमा के प्रश्न का उत्तर आसानी से दिया जा सकता है। सिद्धांत और न्याय की दृष्टि से यदि किसी देश में भूमि सीमित कारक हो तो उस देश में भूमि का अधिकार अथवा वितरण ऐसे नियम से किया जाना चाहिए कि किसी व्यक्ति को भूमि का इतना क्षेत्रफल देने की अनुमति नहीं देनी चाहिए जोकि खेती करने की किसी विशेष तकनीक के अंतर्गत, औसत व्यक्ति या कामगार का प्रबंध करने की क्षमता से अधिक हो और किसी के पास इतनी कम भूमि भी नहीं होनी चाहिए कि प्रति एकड़

अधिक उत्पादन न हो सके, चाहे उस पर कितना ही श्रम क्यों न किया जाय। अन्य शब्दों में किसी भी फार्म की उच्चतम सीमा किसी कामगार अथवा मानव शक्ति की प्रत्येक इकाई की कार्यक्षमता के आधार पर नियमित की जानी चाहिए और किसी कार्य की न्यूनतम सीमा भूमि की एक इकाई की उत्पादन क्षमता से नियमित की जानी चाहिए। गत पृष्ठों के आंकड़ों से यह विदित होगा कि कृषीतर यंत्रीकृत परिस्थितियों में खेती करने अथवा हाथों और पशुओं के श्रम से खेती करने का ही केवल ऐसा तरीका है जिसकी हमारे देश में आवश्यकता है। यदि किसी भूमि में अपेक्षाकृत अधिक आदमी काम करें तो प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्रफल कम हो जाता है और उस भूमि में इतनी शीघ्रता से प्रति एकड़ उत्पादन की वृद्धि होती है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन भी बढ़ जाता है जबकि भूमि घटकर 33.3 और 25 एकड़ के बीच में अर्थात् 27.5 एकड़ क्षेत्रफल प्रति व्यक्ति हो जाती है। इस अवस्था अथवा इतने एकड़ भूमि के होने पर ही प्रति व्यक्ति 'ह्रास प्रतिफल नियम' का परिचालन प्रारंभ हो जाता है। 27.5 एकड़ से कम भूमि होने पर ज्यों-ज्यों भूमि का क्षेत्रफल कम होता जाता है, प्रति व्यक्ति उत्पादन में कमी होती जाती है यद्यपि प्रति एकड़ उत्पादन उस समय तक बराबर बढ़ता जाता है जब तक कि प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्रफल 2.6 और 2.1 एकड़ के बीच तक कम होता जाता है अर्थात् 2.5 एकड़ तक हो जाता है। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति के पास भूमि का क्षेत्रफल 27.5 एकड़ से अधिक हो तो भूमि का पूर्णतया उपयोग नहीं हो पाता क्योंकि कुशल श्रम की कमी रहती है और यदि भूमि का क्षेत्रफल प्रति कामगार के हिसाब से 2.5 एकड़ से भी कम हो तो श्रमिक को पूर्णतया काम नहीं मिल पाता क्योंकि भूमि की काफी कमी होती है। इन दो स्तरों के बीच में यदि किसी आदमी अथवा कृषि कामगार के पास अपेक्षाकृत अधिक भूमि है तो उसके लिए अधिक अच्छा है क्योंकि उसका कुल उत्पादन जोत में प्रति एकड़ वृद्धि के साथ बढ़ता रहेगा। यदि उस आदमी के पास अपेक्षाकृत कम भूमि है तो देश के लिए अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होगा क्योंकि देश का कुल उत्पादन, जोत में से प्रति एकड़ कमी करते रहने पर, अधिक होता जाएगा।

इसलिए हमारे देश में (क) जहां भूमि ही सीमित कारक है, लेकिन श्रमिकों की कमी नहीं है; (ख) जहां खेती करने वाले परिवार (सामान्यतया दो कामगारों को सम्मिलित करते हुए) के पास भूमि है उसका क्षेत्रफल आज औसतन केवल 6 एकड़ या कुछ अधिक है; (ग) जहां जनसंख्या की वृद्धि की दर बहुत अधिक है अर्थात् लगभग 2.48% प्रतिवर्ष; और (घ) जहां औद्योगिकीकरण अथवा कृषीतर विकास आदमी की अपेक्षा बहुत ही मध्यम गति से चल रहा है; खेती करने वाले लोगों का मनुष्य : भूमि अनुपात बढ़ने की अपेक्षा कम होता चला जाएगा और यह स्थिति जनता के हित में है, यथा—

(क) भूमि के वर्तमान कब्जे की अधिकतम सीमा प्रति प्रौढ़ कामगार (जिसमें उसकी पत्नी और छोटे बच्चे, यदि कोई हों, को शामिल करते हुए)

27.5 एकड़ से अधिक नहीं होनी चाहिए और इसके फलस्वरूप भूमि का जो क्षेत्रफल बच जाता है उसे ऐसे लोगों में बांट देना चाहिए जिनके पास बिल्कुल भी भूमि नहीं है अथवा जिनमें से प्रत्येक के पास 2.5 एकड़ से कम भूमि है ।

(ख) 2.5 एकड़ भूमि का मापदण्ड है अर्थात् यदि संभव हो तो भविष्य में भूमि के हस्तांतरण और बटवारे से संबंधित कानून का इस प्रकार संशोधन करना चाहिए कि प्रति कामगार भूमि का क्षेत्रफल 2.5 एकड़ से कम न हो सकें; और

(ग) भविष्य में भूमि बढ़ाने को इस प्रकार नियमित करना चाहिए कि बढ़ाई गई भूमि और पहले से ही उसके कब्जे की भूमि का कुल क्षेत्रफल उस विशेष सीमा से कहीं अधिक होना चाहिए जो न्यूनमत मापदंड और अधिकतम सीमा की भूमि के बीच में ही कहीं स्थिर किया जाए।

वास्तविक अधिकतम सीमा और न्यूनतम मापदंड की भूमि दोनों ही संबंधित क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुसार अलग-अगल हो सकती हैं, यथा खेती करने वाली जनसंख्या में मनुष्य भूमि का अनुपात और मिट्टी की उर्वरता अथवा उत्पादिता ।

एक ओर इस कार्यक्रम के हिताधिकारियों के संबंध में सीमांत अथवा अलाभकारी किसानों (जो एक हेक्टेयर अथवा 2.5 एकड़ भूमि से कम क्षेत्रफल की जोतें रखते हों और कुल के आधे से अधिक हों) में से चयन करना है तो दूसरी ओर भूमिहीन लोगों पर ध्यान देना है । यदि इन सभी कारकों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो दूसरे प्रकार के मामले में अधिक शक्ति है । निर्धन देशों में इस प्रकार के निर्धनतम व्यक्तियों के पास यदि कोई सम्पत्ति नहीं है तो समाज में सम्पत्ति प्राप्त करने का उन्हें अपेक्षाकृत अधिक अधिकार है । फिर भी इन भूमिहीन लोगों में से जिन्हें वे भी गत वर्षों में भूमि पर काम किया है अथवा बंधुआ मजदूरों या बटाई पर खेती करने वालों की हैसियत से खेतों पर काम किया है तो ऐसे लोगों को वरीयता दी जा सकती है ।

जहां तक ऐसी भूमि के क्षेत्रफल का संबंध है जो किसी भूमिहीन व्यक्ति को आवंटित की जानी चाहिए, पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) ने 'परिवार जोत' को ऐसी भूमि का क्षेत्रफल बताया है जो वर्तमान स्थानीय परिस्थितियों और औद्योगिकी के स्तर के अन्तर्गत या तो किसी हल इकाई या ऐसे औसत दर्जे के परिवार के लिए कार्य इकाई के बराबर हो जो कृषि करने के पारंपरिक उपकरणों से खेती कर रहा हो । अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक परिवार की जोत में इतनी अधिक कृषि भूमि होनी चाहिए कि उससे एक जोड़ी बैल रखे जा सकें और परिवार के श्रम का पूर्णतया उपयोग किया जा सके । इस प्रकार एक परिवार जोत उतनी होनी चाहिए जितनी पारंपरिक खेती की परिस्थितियों के अन्तर्गत लाभकारी जोत हो ।

इन्स्टीट्यूट आफ इकनॉमिक ग्रोथ (आर्थिक संवृद्धि संस्थान), दिल्ली विश्वविद्यालय, के भूतपूर्व निदेशक प्रोफेसर ए० एम० खुसरू ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में काफी संख्या में फार्म प्रबंध के अध्ययनों का भली भांति विश्लेषण किया है और उन्होंने सिंचित अथवा सींची न जाने वाली सभी प्रकार की भूमि के बारे में अध्ययन किए हैं तथा उनका भली भांति विश्लेषण भी किया है। प्रोफेसर ए० एम० खुसरू के मतानुसार (3 से 4 हेक्टेयर=) 7.5 से 10.00 एकड़ भूमि का क्षेत्रफल एक पूर्ण कार्य इकाई और एक हल इकाई का द्योतक है।

फिर भी पुरानी प्रौद्योगिकी परिस्थितियों के अन्तर्गत यह मान्य था कि एक परिवार अथवा लाभकारी जोत के बनाने के लिए उसे 4 हेक्टेयर अथवा 7.5 से 10 एकड़ भूमि की आवश्यकता थी। नई प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत जबकि, (i) प्रति एकड़ उत्पादन शीघ्र ही हो जाता है। (ii) पहले की अपेक्षा प्रति एकड़ अपेक्षाकृत अधिक मानवीय श्रम की आवश्यकता होती है और (iii) हाथ से चलाए जाने वाले औजार और उपकरण (3 से 5 अश्व शक्ति वाले बहुप्रयोजक छोटे ट्रैक्टर शामिल करते हुए) में बैलों को भी जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार वर्ष पर्यन्त उनके लिए चारे और कार्य खोजने की आवश्यकता का निराकरण किया जा सकता है जो ऊपर दिए गए क्षेत्रफल की आधा और एक-तिहाई अर्थात् 2.5 से 5.00 एकड़ तक भूमि की गुणवत्ता और उपलब्धता पर निर्भर है। इससे इस स्थिति की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। जापान का ही उदाहरण लें जहां आज औसत जोत केवल 1 हेक्टेयर से कुछ ही अधिक है (20 वर्ष पूर्व एक हेक्टेयर से कम थी) और जैसा कि गत पृष्ठों में पहले ही कहा गया है कि डॉ० एल्मेर पैंडेल ने अपनी पुस्तक, 'पॉपुलेशन्स ऑन लूज़' में कहा है कि एक कृषि कामगार एक हेक्टेयर में काफी पैदा कर सकता है किन्तु शर्त यह है कि वह ऐसा करने के लिए आवश्यक संकल्प कर सके।

फिर भी, अतिरिक्त भूमि का पुर्नवितरण करते समय इसके साथ ही कानून की यह व्यवस्था हो अथवा व्यवस्था होनी चाहिए कि आवंटी अथवा भूमि पर कब्जा करने वाले व्यक्ति को आगामी 20 वर्षों की अवधि में अपनी भूमि को कृषीतर सहकारी संस्था, वाणिज्यिक बैंक अथवा सरकार की अपेक्षा किसी अन्य व्यक्ति को बेचने अथवा गिरवी रखने का कोई अधिकार नहीं होगा। अन्यथा आवंटी अथवा अधिन्यासी शायद भूमि बेच देंगे और फिर भूमिहीन हो जाएंगे जिससे इस योजना का केवल उपहास ही होगा।

कानून में यह भी व्यवस्था होनी चाहिए कि आवंटन का उपविभाजन नहीं होगा बल्कि आवंटन का पूरा का पूरा भाग किसी एक ही वारिस को दिया जाएगा। एक हेक्टेयर से कम जोतों में से प्रत्येक जोत श्रमिकों को बेकार ही बनाती है।

सुदूर सतर्कता यह भी बरतनी है कि कहीं बेईमान व्यक्ति आवंटियों की सरलता का शोषण न कर ले और फिर भूमि भी कुछ ही हाथों में न चली जाए इसलिए एक सीमा से अधिक भविष्य में भूमि का संग्रह और इसके साथ ही साथ

कतिपय शर्तों के सिवाय भूमि को फिर से उठाए जाने के मामलों को कानून द्वारा कड़ाई से रोकना चाहिए जैसा कि इस शताब्दी के छठे दशक में उत्तर प्रदेश में किया गया था।

इसके अतिरिक्त, भूमि का वितरण किसानों के लिए कुछ लाभदायक होगा और पहले बताए गए प्रतिबंधों को भी सफलतापूर्वक लागू किया जा सकेगा, यदि भूमि के पुनर्वितरण की प्रक्रिया को अधिक आपूर्ति और निवेशों के व्यापक रूप से वितरण के साथ संस्थागत प्रबंधों से जोड़ दिया जाए। इन निवेशों में बीज, उर्वरक और सिंचाई जल और इससे भी अधिक ऋण और प्रसार-सेवाएं शामिल की जाती हैं, जो छोटे-छोटे किसानों तक पहुंचने के लिए बनाई गई हैं। यदि आवंटियों को आत्मनिर्भर बनाना है तो व्यापक रूप से प्रसारित साहित्यिक कार्यक्रम बनाना होगा जिसे छोटे किसानों की विकास एजेंसियों द्वारा सहायता मिलती रहे। यह कार्य करने की अपेक्षा कहने में बहुत आसान है। आज की सीमित परिस्थितियों में छोटे किसानों की विकास एजेंसियों के कार्यक्रम जटिल और दुर्दमनीय समस्याओं के होते हुए भी चलाया जा रहा है।

अंत में, खेती के उपस्कर की आपूर्ति पहले बताई गई सुविधाओं की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। आवंटी एक जोड़ी बैल भी नहीं खरीद सकता। सरकार 25 वर्षों से अधिक समय से भूमि के पुनर्वितरण की बात कह रही है। इस संबंध में आवाजें उस समय और भी बुलंद हो जाती हैं जब चुनाव आते हैं लेकिन अभी तक किसी ने भी सस्ते और सरल खेती के उपस्कर तैयार कराने पर विचार नहीं किया है। उदाहरणार्थ, जापान के मॉडल के आधार पर ऐसे उपस्कर बनाए जाने हैं जिनकी आपूर्ति उन गरीब लोगों को भूमि के आवंटन के साथ ही साथ की जा सके। इसके विपरीत बड़े-बड़े ट्रैक्टरों का निर्माण किया जा रहा है जबकि, दूसरी ओर अधिकतम भूमि की सीमाएं लागू की जा रही हैं।

'टाइम्स आफ़ इंडिया', नई दिल्ली में 5 नवम्बर, 1975 को एक समाचार प्रकाशित किया गया जो पढ़ने में रोचक है :

> "मुख्यमंत्री श्री एच० एन० बहुगुणा के अनुसार फरवरी के अंत तक उत्तर प्रदेश में 5.2 लाख भूमिहीन श्रमिकों को लगभग 2.5 लाख हेक्टेयर अतिरिक्त भूमि बांटी जाएगी।
>
> "उन्होंने यह बताया कि राज्य के 8,900 गांवों में भूमि उपलब्ध है। सरकार आवंटियों को एक जोड़ी बैल, बीज और अन्य निवेश भी देगी।"

इसके कुछ महीनों बाद अर्थात् 30 जून, 1976 को राजस्व राज्यमंत्री श्री वीर बहादुरसिंह ने यह घोषणा की कि लगभग 18.07 लाख एकड़ भूमि उत्तर प्रदेश के 19.29 लाख भूमिहीन लोगों में अब तक बांटी गई है जिसमें हरिजन भी शामिल हैं। यह भूमि-वितरण 20 सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत किया गया है। इसके कारण औसत आवंटन और भी कम हो गया है अर्थात् प्रति आवंटी को 1.2 एकड़ से कम

करके 0.9 एकड़ भूमि का आवंटन किया गया है ।

जहां तक श्री बहुगुणा के इस आश्वासन का संबंध है कि आधे एकड़ भूमि पर खेती करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक जोड़ी बैल दिए जाएंगे, उसके बारे में कुछ भी न कहना अधिक अच्छा है । इसी प्रकार का राजनीतिक नेतृत्व ही देश में भयावह आर्थिक स्थिति उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है । आजकल एक जोड़ी बैलों की कीमत 2,500 रुपए से कम नहीं है और इस कीमत को आधा भी कर दिया जाए तो 19 लाख बैलों की जोड़ियों की कीमत 247.5 करोड़ रुपए होगी और इतनी राशि राज्य सरकार कभी भी न बचा सकेगी । प्रश्न यह भी है कि इन बैलों को खिलाने के लिए चारा कहां से मिलेगा ।

पाठक ने गत पृष्ठों में यह पहले ही देख लिया है कि 1972-73 में अधिकतम भूमि सीमा के लिए जो कानून बनाए गए वे तमाशा ही बनकर रह गए हैं । इसका सरल कारण यह है कि शासन सत्ता से तालमेल न बैठ सका । कांग्रेस नेतृत्व ने क्रांतिकारी घोषणाएं कीं और इनके बावजूद कांग्रेस नेतृत्व दीन-दुखियों के लिए सहानुभूति को कार्यान्वित करने में बिल्कुल ही सच्चा न रहा ।

15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त करने के तुरंत बाद ही पहला काम यह करना था कि उन सभी व्यक्तियों की जोतों के क्षेत्रफल को सरकार अपने हाथ में ले लेती जिनमें से प्रत्येक के पास 10 हेक्टेयर या 25 एकड़ से अधिक भूमि कब्जे में थी । तालिका 43 (पृ० 157) में यह दिखाया गया है कि व्यक्तिगत जोतों (संख्या में 2.14 लाख) का क्षेत्रफल, प्रत्येक 10 हेक्टेयर की जोत से अधिक 3,47,20,000 हेक्टेयर भूमि थी । यह मान लिया जाए कि संयुक्त जोतों से कोई भी अतिरिक्त भूमि का क्षेत्रफल उपलब्ध नहीं होगा और भूमिहीन लोगों में तीन हेक्टेयर क्षेत्रफल की भूमि का आवंटन किया जाएगा तो जैसा कि ऊपर हिसाब लगाया गया है उसके अनुसार जो अतिरिक्त भूमि का क्षेत्रफल उपलब्ध होगा उसे अधिक से अधिक परिवारों का प्रतिनिधित्व करने वाले 115 लाख व्यक्तियों से भी अधिक व्यक्तियों को बांटकर लाभ पहुंचाया जाएगा । इस संबंध में यह याद रखना चाहिए कि बड़ी-बड़ी जोतों के पूर्व पृष्ठों में बताए गए आंकड़ों का संबंध वर्ष 1970 से है जो कम से कम छठे दशक की मध्यावधि से भूमि की अधिकतम सीमा लगाने के संबंध में यदा-कदा विचारों की दृष्टि से 1947-48 की अपेक्षा बहुत ही कम रहे हैं जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं द्वारा प्रशासित राज्य सरकारों ने देश भर में जमींदारी उन्मूलन के निर्णय लिए थे ।

आज कानूनी या कहिए कि वैधानिक स्थिति ज्यों की त्यों है । यह संभव नहीं है कि नए ढंग से कुछ किया जाए अथवा पुराने ढंग से कुछ किया जाए । फिर भी शायद अभी एक रास्ता है । हजारों बड़े-बड़े यंत्रीकृत फार्म कई व्यक्तियों के नामों से चलाए जा रहे हैं और उनमें कई व्यक्ति शामिल कराए गए हैं जो नौकर, मित्र, संबंधी और शायद ऐसे भी लोग हैं जिनका अस्तित्व ही न हो । इन सभी व्यक्तियों

को शामिल करके आज फार्म को एक इकाई के रूप में परिचालित किया जाता है। ऐसे फार्मों को कानून के अनुसार नई अधिकतम भूमि-सीमाओं के उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक यूनिट ही समझना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कानून अथवा यहां तक कि शायद संविधान में भी संशोधन की आवश्यकता हो सकती है और ऐसे संशोधन के लिए कोई भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए। भूमि पुनर्वितरण के समर्थकों में से कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो आज वन क्षेत्र अथवा वृक्षों से आच्छादित भूमि पर अपनी आंख गड़ाए बैठे हैं। यह मौका देश की अर्थव्यवस्था के लिए वनों के लाभों के बारे में सविस्तर वर्णन करने का नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारत में इस प्रकार के क्षेत्र को कम करने की अपेक्षा बढ़ाना ही श्रेयस्कर होगा।

वन की कटाई देश को लाभ पहुंचाने की अपेक्षा अधिक हानि पहुंचाएगी। इसके कारण अधिक बाढ़ें आएंगी और भूमि का कटाव होगा जिसके फलस्वरूप न केवल वर्तमान समय में ही अपितु भविष्य में भी लोगों पर संकट आएगा। इन बाढ़ों का मुख्य कारण जो उत्तरी भारत का अधिकांश हिस्सा प्रायः क्षत-विक्षत कर देती हैं, इस तथ्य में निहित है कि इस क्षेत्र की नदियां उत्तर में उन कछारी क्षेत्रों में बहती हैं जो अधिकांशतया हिमालय क्षेत्र में हैं। इन बाढ़ों के कारण अधिकांश वन उखड़ गए हैं।

बहते हुए जल से ऊपरी मिट्टी का कुछ भाग उखड़ जाता है और उस जमीन के हिस्से को व्यावहारिक रूप में फिर से भरना असंभव है। वास्तव में, प्रकृति को ऊपर की उर्वरक भूमि के एक इंच की परत तैयार करने में 500 से 1,000 वर्षों तक का समय लगाना पड़ता है। वनरोपण और घास उगाने के विधिवत् प्रयत्नों द्वारा भूमि का संरक्षण आवश्यक है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि उससे सीधे ही आर्थिक लाभ होते हैं, अपितु इससे नदियों के तले या जलाशय और बाद में आने वाली बाढ़ों से गाद भरने को रोका जा सकता है। विशेषज्ञों का यह विश्वास है कि 6,00,000 लाख टन ऊपर की मिट्टी में पौधे के लिए पोषक तत्व होते हैं जो 53 7 लाख टन एम० पी० के बराबर होते हैं। ये पोषक तत्व भूमि कटाव के कारण प्रति वर्ष नष्ट हो जाते हैं।

यदि इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो संभवतः यह बुद्धिमानी का काम नहीं था कि उत्तर प्रदेश के उप-पहाड़ी तराई क्षेत्र के वन काटे गए हैं और वहां बस्तियां बसाई गई हैं।

यह आदर्शात्मक बात है कि हमारी 1/3 भूमि वनों से आच्छादित होनी चाहिए। यह बात भारत सरकार ने 12 मई, 1952 को एक संकल्प द्वारा तय की थी लेकिन इसके बजाय 1966-67 में वनों से आच्छादित भूमि वस्तुतः 1/5 भाग अर्थात् 623 लाख हेक्टेयर थी जबकि 3056 लाख हेक्टेयर कुल भूमि होनी चाहिए थी। विभिन्न क्षेत्रों में वन-आच्छादित क्षेत्रफल के अनुपात के बारे में 'संकल्प' में कहा गया है :

"स्थायी रूप से वनों से आच्छादित रखी जानी वाली भूमि का अनुपात

अलग-अलग क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से अलग-अलग होगा। व्यावहारिक विचारों से यह सुझाव है कि भारत में कुल मिलाकर वनों से आच्छादित कुल भूमि का क्षेत्रफल 1/3 भाग होना चाहिए। अनाच्छादन के बचाव के लिए भूमि के अधिकांश प्रतिशत भाग अर्थात् लगभग 60 प्रतिशत भाग में वन होने चाहिए ताकि उनसे हिमालय, दक्षिण और अन्य उन पर्वतीय क्षेत्रों की रक्षा की जा सके जिनकी भूमि प्रायः कट जाती है। मैदानों में जहां की जमीन समतल है साधारणतया कटाव गंभीर कारक नहीं है ऐसे मैदानों में 20 प्रतिशत भूमि वनों के लिए अलग कर लेनी चाहिए और कृषि के दबाव के दृष्टिकोण से इस बात के प्रयत्न करने चाहिए कि नदियों के किनारे या अन्य स्थानों में जो भूमि कृषि के लिए उपयुक्त नहीं है, वहां वृक्षारोपण का प्रसार किया जाए। इसके साथ ही यह भी महसूस करना चाहिए कि सभी प्राकृतिक क्षेत्रों में वनों का समान वितरण उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उसका सर्व समावेशी अनुपात। कुछ स्थानों में वन की कमी है इसलिए सीमांत भूमि और नदियों से कटी हुई भूमि तथा गांव की बेकार भूमि में वन लगाने चाहिए। यदि किसी प्रकार किसी जगह बताए गए मापदण्ड से अधिक वन के क्षेत्र हों तो उन्हें नहीं छेड़ना चाहिए।"

तालिका 50 (पृ० 185) में अन्य देशों की तुलना में हमारे देश के वन क्षेत्र की आज की स्थिति दी गई है। जबकि भारत की जनसंख्या का घनत्व तीन देशों की अपेक्षा ही कम है लेकिन इटली को छोड़कर उन देशों की तुलना में भारत का प्रति व्यक्ति वन क्षेत्रफल सबसे कम है।

हर हालत में, यह विश्वास था कि अधिकतन भूमि की सीमा लागू करने के बाद जो भी अतिरिक्त भूमि उपलब्ध होगी, उसके वितरण से हरिजनों, भूमिहीन, अथवा सीमांत किसानों की समस्या का निराकरण कर दिया जाएगा और ग्रामीण समाज की निर्धनता को दूर कर दिया जाएगा, लेकिन इस विश्वास का कोई ठोस आधार नहीं था। फिर भी यह सीमा कितनी ही कम क्यों न निर्धारित होती, इसके फलस्वरूप वितरण के लिए जो भी भूमि मिल पाती उसके हिसाब से औसत एकड़ भूमि उन सभी व्यक्तियों को या उनमें से अधिकांश को बहुत ही कम मात्रा में मिल पाती जिन्हें उसकी आवश्यकता थी।

चकबन्दी

सहकारी अथवा अन्य किसी प्रकार की संयुक्त खेती को त्यागने के बाद उसके स्थान पर छोटे निजी फार्मों की प्रणाली को एक ऐसे रूप में स्वीकार किया गया जो हमारी सभी समस्याओं का निराकरण कर सकेगी। फिर भी कृषि संगठग के यंत्र में केवल एक ही उपाय बचा है अर्थात् भूमि जोतों की चकबन्दी जिसके बारे में विचार करने की आवश्यकता है। इस उपाय से उत्पादनों के तीनों कारकों का दक्षतापूर्वक

तालिका 50

वर्ष 1976 के लिए विश्व के चुने गए देशों में वनों के अन्तर्गत भू-क्षेत्रफल की प्रतिशतता और प्रति व्यक्ति वन-क्षेत्रफल

क्रम संख्या	देश	भौगोलिक क्षेत्रफल (,000 हेक्टेयर में)	वन क्षेत्रफल (,000 हेक्टेयर में)	जनसंख्या (,000व्यक्तियों में)	भौगोलिक क्षेत्रफल में से वन क्षेत्रफल की प्रतिशतता	प्रति हजार भौगोलिक क्षेत्रफल पर जनसंख्या का घनत्व	प्रति व्यक्ति वन-क्षेत्रफल (हेक्टेयर)
1.	जापान	37231	24867	112770	66.8	3029	0.22
2.	वर्मा	67655	45274	31992	66.9	473	1.42
3.	श्रीलंका	6561	2899	14282	44.2	2177	0.20
4.	स्वीडन	44996	26424	8219	58.7	183	3.21
5.	कनाडा	997614	326129	23143	32.7	23	14.09
6.	रूस	2240220	920000	256674	41.1	115	3.58
7.	चेकोस्लोवाकिया	12788	4511	14846	35.3	1161	0.30
8.	उत्तरी अमरीका	1933926	616129	238261	31.9	123	2.59
9.	जर्मनी जनवादी गणराज्य	24858	17165	61531	28.8	2475	0.12
10.	गृह जनवादी जर्मन	10318	2951	16786	27.3	1552	0.18
11.	इटली	30123	6313	56156	21.0	1864	0.11
12.	फ्रांस	54703	14576	52915	26.6	967	0.28
13.	भारत	328778	74358	610076	26.6	1856	0.12

स्रोत : एफ. ए. ओ. प्रोडक्शन ईयर बुक, 1977 (खण्ड 31)

टिप्पणी : 1. भारत के लिए भौगोलिक क्षेत्रफल और वन-संख्या के आंकड़े 'सांख्यिकी सारांश, 1977' से लिए गए हैं और वनों से आच्छादित क्षेत्रफल के आंकड़ों का संबंध 1974-75 से है और ये आंकड़े 'फौरस्ट्री इन इंडिया' —1973-74 और 1974-75 से लिए गए हैं।

2. वन-संख्या के अनुमान वर्ष 1976 के मध्य समय से संबंधित हैं।

तालिका 51

प्रचालित जोतों का खंड विभाजन : ग्रामीण भारत 1960-61

प्रचालित जोतों का आकार वर्ग (एकड़)	जोतों की अनुमानित संख्या (,000 संख्या)	अनुमानित परिचालित क्षेत्र: क्षेत्रफल (,000 एकड़)	कुल की %	जोत के अनुसार (एकड़)	प्रति जोत भूमि-खण्ड: औसत संख्या	प्रति भूमि-खण्ड का औसत आकार (एकड़)
0.49	434	1053	.32	.24	1.82	.13
0.50— 0.99	4355	3146	.95	.72	3.07	.24
1.00— 2.49	11140	18433	5.59	1.65	4.45	.37
2.50— 4.99	11484	40616	12.32	3.54	6.05	.58
5.00— 7.49	6517	38671	11.73	5.93	6.79	.87
7.50— 9.99	3532	29557	8.97	8.37	7.63	1.10
10.00—12.49	2565	27191	8.25	10.60	7.56	1.40
12.50—14.99	1474	19595	5.95	13.29	8.02	1.66
15.00—19.99	1902	31564	9.58	16.60	7.92	2.10
20.00—24.99	1162	24352	7.39	20.96	8.78	2.39
25.00—29.99	664	17468	5.30	26.31	8.00	3.29
30.00—49.99	1108	39710	12.05	35.84	8.07	4.44
50.00—और अधिक	521	38229	11.60	73.38	9.44	7.78
सभी आकार	50765	329585	100.00	6.49	5.66	1.15

स्रोत : राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (एन. एस.एस), 17वां अध्ययन, रिपोर्ट संख्या 146, आई. एस. आई. (1966).

उपयोग हो सकेगा ।

अन्य कई देशों के समान भारत में भूमि जोतें उन छोटे-छोटे प्लाटों या भूमि-खण्डों को अलग-अलग करके पुनः बनाई गई हैं जो गांव के कुल कृषि योग्य क्षेत्र में बिखरी पड़ी हैं क्योंकि ऐतिहासिक अतीत में आदरणीय महानुभावों की यह इच्छा थी कि कुछ किसानों को केवल अच्छी भूमि और अन्य किसानों को खराब भूमि न मिले अथवा ऐसी भूमि न मिले जहां केवल एक ही प्रकार की फसल उगाई जा सकती है । फिर भी इस प्रणाली की इतनी अधिक हानियां हैं कि विश्व भर के कृषि अर्थ-शास्त्रियों ने चकबन्दी को ऐसा समझा है कि एक ही भूस्वामी के अलग-अलग बिखरे हुए खेतों की एक ही खण्ड में अथवा यथासंभव कम से कम खण्डों में चकबन्दी कर दी जाए । ऐसा करना कृषि-सुधार की दिशा में पहला कदम ही है । अखिल भारतीय स्तर पर भूमिखण्डों की सीमा तालिका 51 (पृ० 186) में देखी जा सकती है ।

सामूहिक राज्य स्तर पर ऐसा लगता है कि आसाम और केरल में भूमिखण्डों की स्थिति उतनी खराब नहीं थी । जहां काम में आने वाली प्रति जोत के औसतन भूमिखण्डों की संख्या क्रमशः 2.75 और 2.01 एकड़ थी । गुजरात और राजस्थान में प्रति जोत भूमिखण्डों की औसत संख्या 4 से कुछ अधिक ही थी । उनका औसत आकार क्रमशः 2.58 और 3.22 एकड़ था । दूसरी ओर उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में भूमिखण्डों की स्थिति बहुत गंभीर थी क्योंकि वहां भूमिखण्डों की संख्या अधिक थी और उनके औसत आकार भी बहुत छोटे थे ।

इस स्थिति पर शीघ्र ही दृष्टि डालने के लिए इन दोनों आकार वर्गों अर्थात् 2.4 से 2.99 एकड़ और 5.0 से 7.44 एकड़ का सार चित्र तालिका 52 (पृ० 188) में द्रष्टव्य है ।

इस तथ्य के अतिरिक्त और इससे परे प्रत्येक जोत कई भूमिखण्डों में अलग-अलग थी । ये भूमिखण्ड इतने अलग-अलग फैले हुए थे कि जहां कहीं भी सिंचाई के साधन उपलब्ध थे वहां इन भूमिखण्डों को पूरा-पूरा उपयोग करना संभव न था और जहां कहीं भी खेती केवल वर्षा पर ही अवलंबित थी, वहां उपयुक्त मिट्टी और नमी संरक्षण की दशाएं निष्प्रभावी थीं । भूमि का भावी आयोजन और जल-विकास के साथ ही साथ जल की निकासी और नमी का संरक्षण इन्हीं कारणों से निष्प्रभावी हो गया ।

चकबन्दी के फलस्वरूप जल-निकासी का नियंत्रण और सिंचाई जल की आपूर्ति अपेक्षाकृत अधिक आसान हो गयी जिसके कारण भूमि का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग हो सका ।

प्रत्येक किसान के लिए इसमें कोई किफायत नहीं है कि प्रत्येक खेत के लिए एक कुआं खोदा जाय और यह सदैव संभव नहीं है कि कई किसान मिलकर एक कुआं खोदें और उसी को इस्तेमाल करें । जहां कहीं नहर और नलकूप सिंचाई साधन उपलब्ध हैं, वहां अलग-अलग खेतों की वर्तमान प्रणाली के कारण पानी देने के समय अथवा किसान की मांग को देखते हुए झगड़े हो जाते हैं और अधिक पानी की

तालिका 52

प्रचालित जोतों का भूखण्डन : राज्य 1960-61

राज्य	सभी आकार: कुल प्रचालित क्षेत्रफल (,000 एकड़)	सभी आकार: भूमि-खण्डों की संख्या	सभी आकार: भूमि-खण्डों का आकार (एकड़ों में)	आकार वर्ग 2.5—4.99 एकड़: क्षेत्रफल (,000 एकड़)	आकार वर्ग 2.5—4.99 एकड़: कुल क्षेत्रफल की प्रतिशतता	आकार वर्ग 2.5—4.99 एकड़: भूमि-खण्ड संख्या	आकार वर्ग 2.5—4.99 एकड़: भूमि-खण्ड आकार (एकड़)	आकार वर्ग 5.00—7.49: क्षेत्रफल (,000 एकड़)	आकार वर्ग 5.00—7.49: कुल क्षेत्रफल की प्रतिशतता	आकार वर्ग 5.00—7.49: भूमि-खण्ड संख्या	आकार वर्ग 5.00—7.49: भूमि-खण्ड आकार (एकड़ों में)
आंध्र प्रदेश	28219	4.32	1.64	2627	9.31	4.32	0.82	2929	10.38	5 03	1.15
आसाम	4649	2.75	1.31	1722	37.04	2.96	1.19	1154	24.82	3.50	1.69
बिहार	24536	7.18	0.52	5282	21.53	8.04	0.44	3850	15.69	10.97	0.55
गुजरात	23215	4.30	2.58	1163	5.01	3.49	1.01	1590	6.85	4.17	1.42
जम्मू और कश्मीर	1875	5.09	0.69	545	29.07	5.83	0.59	411	21.92	6.83	0.88
केरल	3314	2.01	0.92	761	22.96	3.40	1.03	465	14.03	3 73	1.58
मध्य प्रदेश	41789	5.30	1.86	2975	7.12	4.31	0.84	4054	9.70	4.95	1.23
मद्रास	13107	4.96	0.74	3025	23.08	5.40	0.64	2482	18.94	6.58	0.90
महाराष्ट्र	40975	3.78	3.04	2299	5.61	3.50	1.02	2528	6.17	3.51	1.72
मैसूर	24277	3.79	2.68	1498	6.17	3.18	1.13	2743	11.30	3.85	1.59
उड़ीसा	12604	6.39	0.76	2600	20.63	6.08	0.58	1933	15.34	8.32	0.70
पंजाब	13605	4.76	2.00	691	5.08	4.32	0.79	1267	9.31	4.65	1.30
राजस्थान	36552	4.27	3.22	1689	4.57	3.66	0.98	2244	6.14	3.89	1.51
उत्तर प्रदेश	46978	7.78	0.57	9837	20.94	8.33	0.42	8024	17.08	9.27	0.63
पश्चिमी बंगाल	12557	7.12	0.54	3506	27.92	7.48	0.48	2705	21.54	10.02	0.60

स्रोत : राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (एन. एस. एस.) 17वां अध्ययन, रिपोर्ट संख्या 146, आई. एस. आई. (1966).

बरबादी हो जाती है क्योंकि लम्बी-लम्बी नालियों से एक ही किसान के अलग-अलग खेतों तक पानी पहुंचाया जाता है ।

श्री लेडजिस्की ने 'फोर्ड फाउंडेशन' में अपनी एक रिपोर्ट प्रस्तुत की । इसमें भारत के एकमुश्त जिलों में भूमि काश्तकारी की अवधि के प्रभाव के संबंध में कहा है कि "इसका संबंध 'सशक्त और सफल कार्यक्रम' के रूप में जोतों की चकबन्दी से है, और उन्होंने यह भी टिप्पणी की कि 'इस कार्यक्रम का प्रभाव गांवों में हमारे लिए काफी स्पष्ट था । इन गांवों में कुछ वर्ष पूर्व चकबन्दी पूरी कर दी गई थी । इसका सबसे विशिष्ट परिणाम उन नए कुओं की संख्या से हो सकता है जो किसानों ने अपनी चकबन्दी की गई भूमि पर बनाए हैं ।" (पृष्ट 27) ।

यदि एक किसान की भूमि एक ही खेत में हो तो उसके चारों ओर बाड़ों, झाड़ियों यहां तक कि खाइयों की व्यवस्था की जा सकती है, ताकि एकान्तता बनी रहे और उस खेत के आदमी तथा जानवर के अनधिकार ढंग से घुसने तथा चोरी और सिल्ला बीनने से बचा जा सके । नाशकारी कीटकों, यथा—मूषक जैसे कुतरने वाले जन्तुओं, कीड़ों-मकोड़ों और टिड्डी दल पर नियंत्रण करना अधिक कठिन न होगा । इस प्रकार खड़ी फसलों को अधिक अच्छे ढंग से बचाया जा सकेगा ।

चौहद्दियों अथवा सिंचाई के अधिकार तथा जल निकासी के साधनों और भू-अभिलेखों में अशुद्धियां रह जाने से झगड़े होते हैं, जिनका कारण छोटे-छोटे खेतों की अधिकता है । ये झगड़े लगभग समाप्त हो चुके हैं और मुकद्दमेबाजी केवल अतीत की कहानी जैसी लगती है । बैल किसानों की मुख्य पूंजी है और इन बैलों का भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छा उपयोग दिया जा सकता है क्योंकि इन बैलों को एक छोटे खेत से दूसरे छोटे खेत तक ले जाने में अधिक समय बरबाद होता है और यह समय केवल एक खेत होने की दशा में बचाया जा सकता था ।

मानव-श्रम को भी अधिक किफायत तथा अधिक दक्षता से उपयोग में लाया जा सकेगा । आज केवल बैलों का समय ही बरबाद नहीं होता बल्कि किसानों और मजदूरों का भी समय नष्ट होता है, यदि एक खेत से दूसरे खेत पर जाना पड़े । उत्तर प्रदेश के बारे में यह उद्धृत किया जा सकता है : फरवरी 1962 के अन्त तक 1,62,93,809 खेतों के 28,27,940 चक[11] बनाए गए और एक चक में औसतन 5.76 खेत शामिल किए गए ।

जिला बस्ती की डोमरियागंज तहसील में छोटे-छोटे खेतों की अधिकता बहुत ज्यादा थी । वहां एक किसान परिवार के पास औसतन 25 खेत थे जिनका क्षेत्रफल लगभग 300 एकड़ था । इसका अर्थ यह है कि एक छोटे खेत का औसत क्षेत्रफल 4 बिस्वा यानी 600 वर्ग गज अथवा इतना ही था । चकबन्दी के बाद पच्चीस खेत जो एक परिवार के कब्जे में थे घटाकर दो खेत बना दिए गए ।[12] जानवरों और आदमियों का

11. हिन्दी में प्रयुक्त 'चक' का अर्थ एक ब्लाक अथवा मिला-जुला क्षेत्र है ।

12. 22,74,733 छोटे-छोटे खेत 90,000 परिवारों के पास थे जिनका 2,84,300 एकड़ क्षेत्रफल था और जिन्हें चकबंदी के बाद 1,81,398 चकों में एकीकृत कर दिया गया ।

तालिका 53

भारत में विभिन्न राज्यों में चकबन्दी किये गये क्षेत्रफल का विवरण

(लाख हेक्टेयर में क्षेत्रफल)

क्रम संख्या	राज्य	पहली योजना से पूर्व	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	तीन वार्षिक योजनाएं	चौथी योजना	1974-75 से 1977-78
1.	आंध्र प्रदेश	—	—	1.25	2.06	—	—	—
2.	आसाम	—	—	—	—	—	—	—
3.	बिहार	—	0.16	0.60	0.83	0.22	0.27	3.57
4.	गुजरात	—	0.43	0.65	1.15	0.78	3.98	4.17
5.	हरियाणा	—	—	—	—	1.59	1.27	—
6.	जम्मू और कश्मीर	—	—	—	0.22	—	—	—
7.	मध्य प्रदेश	9.77	1.93	3.59	8.02	3.28	7.99	—
8.	महाराष्ट्र	—	1.75	3.55	16.69	21.22	53.35	30.97
9.	कर्नाटक	0.86	1.09	2.88	3.60	2.40	—	—
10.	उड़ीसा	—	—	—	—	—	—	0.11
11.	पंजाब	—	24.72	34.19	31.29	—	—	—
12.	राजस्थान	—	—	5.60	11.27	0.25	—	—
13.	उत्तर प्रदेश	—	0.76	21.06	45.61	21.53	26.38	19.14
14.	पश्चिमी बंगाल	—	—	—	—	—	—	—
15.	हिमाचल प्रदेश	—	0.16	0.49	0.80	अनुपलब्ध	0.40	अनुपलब्ध
	जोड़	10.63	31.00	73.86	121.54	51.27	93.64	57.96

काफी श्रम बचाया जा सका जिसका सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है।

चकबन्दी के बाद किसान अवश्य ही अपने समस्त कृषि-उपकरण अपने चक अथवा समेकित जोत में भेज देगा और वहीं वह अपने उपयोग के लिए एक भवन का निर्माण भी कर सकता है और अपने पशुओं के लिए एक अहाता बना सकता है, वहां वह भूसा अथवा भूसी और पशुओं के लिए चारा स्टाक कर सकता है, तथा वह वहां उपले रख सकता है। उसी चक में वह अनाज गहाने के लिए एक टुकड़ा जमीन अलग सुरक्षित कर सकता है और उसी चक में एक ओर कोल्हू अथवा गन्ना पेरने की मशीन लगा सकता है और उसी चक में वह अपनी देखभाल में कृषि के सभी कार्य सम्पन्न कर सकता है और ये सब कार्य एक ही स्थान में उसी की अधिकार सीमा में हैं। अब वह अपेक्षाकृत अधिक अच्छा निरीक्षण करने की स्थिति में है।

इस प्रकार, जोतों की चकबन्दी से कृषि उत्पादन के तीनों कारकों—भूमि, पूंजी और श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है। अनुभव से यह पता चला है कि इससे प्रति एकड़ उत्पादन काफी बढ़ जाता है।

मालकोम डार्लिंग का कहना है कि "चकबन्दी के लाभकारी परिणामों का गिनाना आसान है लेकिन उन्हें कार्यरूप में परिणित करना सबसे कठिन है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक आदमी को सन्तुष्ट करना होता है और सभी झगड़ों को निबटाना पड़ता है। अज्ञानी आदमी को शिक्षित करना होगा तथा जिद्दी आदमी को शान्त करना होगा। गरीब, कमजोर और न बोल सकने वाले आदमियों का उतना ही सम्मान करना होगा जितना कि धनी, शक्तिशाली और अपनी बात कहने वाले आदमियों का सम्मान किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, तकनीकी कठिनाइयां भी हैं। इनके मूल में किसान का अपने खेत के प्रति अटूट प्रेम निहित है क्योंकि वह अपने पड़ोसियों से द्वेष कर बैठता है और यह स्थिति उसके भावावेश की देन है। ऐसी परिस्थितियों में कार्य की गति धीमी हो जाती है। चमत्कार तो यह है कि यह सभी कुछ हो जाता है।[13]

इस देश के मुश्किल से आधे राज्यों ने ही जोतों की चकबन्दी के कानून बनाए हैं, जबकि आन्ध्र प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, आसाम, केरल, उड़ीसा, तमिलनाडू और पश्चिमी बंगाल में इस दिशा में कदम नहीं उठाए गए हैं। व्यावहारिक रूप से राजस्थान और कर्नाटक में क्षेत्र-कार्य नहीं किया गया है। आंकड़ों की स्थिति देखते हुए कहा जा सकता है कि यह अनुमान है कि देश भर में 450 लाख हेक्टेयर से अधिक भूमि की चकबन्दी नहीं हो सकी है और वास्तव में चकबन्दी का कार्यान्वयन थिगलीनुमा और छुट-पुट है। चकबन्दी का अधिकांश कार्य पंजाब (हरियाणा मिलाकर अविभाजित पंजाब), उत्तर प्रदेश और अधिकतर महाराष्ट्र में किया गया है तथा आंशिक रूप से गुजरात और बिहार में हुआ है। मध्य प्रदेश ने सर्वेक्षण और

13. 'द पंजाब पीजेण्ट : इन प्रास्परिटी एण्ड इन डेट', ज्योफ केम्ब्रिज, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1948, पृष्ठ 241.

बन्दोबस्त की संक्रियाओं के साथ इस योजना को जोड़ दिया है और जोतों की चकबन्दी को चलाने के लिए 12 वर्षीय योजना तैयार की गई है।

पंजाब और हरियाणा में कार्य पूरा हो चुका है और उत्तर प्रदेश में न्यूनाधिक (80 प्रतिशत) काम पूरा हो चुका है। तालिका 53 (पृ० 190) में भारत के विभिन्न राज्यों में कुल चकबन्दी क्षेत्र का विवरण दिया गया है।

यदि मैदानों की सभी कृषि योग्य भूमि की चकबन्दी कर दी जाती और चकबन्दी की गई जोतों में पक्के कुएं बना दिए जाते तथा उनमें रहट की व्यवस्था कर दी जाती और किसानों को पशुओं के गोबर को सुरक्षित करना सिखा दिया जाता तथा उन्हें मल-मूत्र और सड़ी सब्जियों की कम्पोस्ट खाद तैयार करना सिखा दिया जाता तो हमारी बढ़ती आबादी के लाखों लोगों के लिए केवल अन्न की पूर्ति ही न हो जाती बल्कि हमें कृषि-उत्पादों का निर्यात करने में भी सफलता मिल जाती।

सारांश में अभी तक जो चकबन्दी की गई है, वह कई अर्थों में ठीक नहीं है। यह चकबन्दी और पूरक विकास कार्यों का सम्मिलित कार्यक्रम है जिसकी हमें आवश्यकता है।

सेवा सहकारी समितियां

चकबंदी तितर-बितर खेतों की समस्या का निराकरण कर सकती है लेकिन भूमि के क्षेत्रफल को नहीं बढ़ा सकती और इससे सीमान्त अथवा अलाभकारी जोतों की समस्याओं का समाधान भी नहीं हो सकता। समय के गुजरने के साथ ही साथ और कृषीतर व्यवस्थाओं के अभाव के कारण अलाभकारी जोतें औसत आकार के परिवार को रोजगार दिलाने में असमर्थ हैं अथवा उनको पर्याप्त भोजन तथा कपड़े उपलब्ध नहीं करा सकतीं। इस प्रकार की अलाभकारी जोतों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है।

किसान के स्वामित्व को संयुक्त कृषि के रूप में परिवर्तित करना एक संस्थागत परिवर्तन है जिसका किसान के द्वारा विरोध हुआ है और इसका सदैव विरोध होगा जहां कहीं भी यह परिवर्तन किया जाएगा। इस उपाय से उपज बढ़ने में सहायता नहीं मिलती, बेरोजगारी कम नहीं होती अथवा लोकतांत्रिक व्यवहारों में मजबूती नहीं आती। दूसरी ओर तकनीकी सुधार अथवा तकनीकी सुविधाएं हैं। जिनका किसान स्वागत करेगा अर्थात् सिंचाई, जल, खाद, उन्नत बीज, कीटनाशक दवाइयां और सामान्य रूप से अपेक्षाकृत अधिक अच्छी खेती के ढंग जो वास्तव में किसान के उत्पादन अथवा आय की वृद्धि करते हैं और जिन्हें बड़े किसानों की तरह छोटे किसान सरलता से उपयोग में लाते हैं अथवा उपयोग में लाना प्रारंभ करते हैं। बड़े पैमाने पर खेती करना आवश्यक नहीं है और जिस प्रकार से किसान खेती कर रहे हैं उसमें तकनीकी प्रगति की दृष्टि में कोई बाधा नहीं होती।

इसलिए हमें जो कुछ करना है वह यह है कि हम वैयक्तिक भूमि-प्रयोग के प्रोत्साहन और भूमि के किसी स्वामित्व के साथ बड़े पैमाने पर खेती करने अथवा बड़े फार्म के लाभों को मिला दें। हमारी परिस्थितियों में जहां जोतें बहुत छोटी हैं और

ये जोतें छोटी ही बनी रहेंगी और इस मामले में जैसा कि अधिकांश देशों की परिस्थितियों में भी पाया जाता है, सहकारिता का नियम ही ऐसा है जो सही समाधान प्रस्तुत करेगा ।

सहकारिता अन्यथा स्वतंत्र इकाइयों का एक समीपी (यूनियन) संघ जिसमें अलग-अलग इकाइयों को केवल मिलाया भर जाता है और जिसका उद्देश्य यह है कि स्वतंत्र और एकाकी कार्य से सम्बद्ध कतिपय हानियों को कम किया जाय । इसका वास्तविक उद्देश्य यह है कि पहले, किसानों को अपने कार्य के लघु रूप और व्यापारिक सभ्यता के तौर-तरीकों में प्रशिक्षण की अभाव-जनित अयोग्यताओं से बचाया जाए और दूसरे, किसानों के लिए निजी सम्पत्ति की सभी सुविधाओं और तकनीकी लाभों को सुरक्षित किया जाए । सहकारिता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि खेती या उत्पादन के वास्तविक कार्य तक उसका विस्तार किया जाए अर्थात् फर्म-प्रबंध के उन कार्यों तक उसका विस्तार नहीं किया जाना चाहिए जो एक छोटे खेत की सीमाओं में उपयुक्त रूप से कार्यान्वित किया जा सकता है । इस प्रकार के कार्य स्वतंत्र व्यक्ति स्वयं ही उद्देश्य बनाकर पूरा करें । यदि सहकारी समिति अथवा संगठन के सदस्य अपनी आर्थिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता का बलिदान करते हैं तो यह केवल जोतों को मिला देना है और इसे सहकारिता नहीं कह सकते ।

होरेस प्लनकैंट फाउंडेशन के अध्यक्ष, डॉ० सी० आर० फे ने 1943 में कहा था, "उत्तरी यूरोप ने यह पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि तकनीकी उत्कर्षता की अधिकतम उपलब्धि परिवार की खेती के साथ पूर्णतया संगत है लेकिन यह दो दशाओं में संभव होती है : पहली, भूमि इकाई राजकीय संरक्षण का विशेष विषय बन जाए और दूसरे, भूमि व्यक्तिगत परिवार के प्रयत्न को खरीद प्रक्रिया और बिक्री के सामूहिक प्रयत्न के साथ जोड़ दिया जाए ।"[14]

इसलिए राष्ट्रीय नीति के रूप में हमें किसानों को यह बात समझाने तक सीमित होना है कि सेवा सहकारी समितियों अथवा कृषीतर कार्यकलापों में सहकारिता और वित्तीय संसाधनों के एकत्रीकरण से क्या-क्या लाभ हो सकते हैं । हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि वैयक्तिक रूप से कार्यरत व्यक्तिगत अस्तित्व का निर्माण किया जाए और उसका अनुरक्षण किया जाए और उसे सहकारिता के सिद्धान्त के साथ या तो सम्बद्ध किया जाए या उससे आबद्ध किया जाए । साथ ही साथ, आर्थिक अराजकता (जो आज हमारे देश में व्याप्त है) और सामूहिकता (जो रूस और चीन में प्रारंभ की जा चुकी है) को त्यागा जाए । जापान और पश्चिमी यूरोप में ऐसी प्रणाली है कि खेत और किसान दोनों की ही पहचान अलग-अलग बनी रहती है और जिसके कारण प्रति एकड़ उत्पादन भी कहीं अधिक हुआ है जिसकी तुलना उस भूमि के उत्पादन से की जा सकती है जहां श्रमिकों को एकत्र कर दिया जाता है । यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इस प्रणाली से एक ऐसा कृषि संगठन तैयार होता है जो

14. 'इयर बुक ऑफ एग्रीकल्चरल कोआपरेटिव', 1943.

प्रजातंत्र को सशक्त करता है। दूसरी ओर संयुक्त कृषि का, चाहे उसे कोई भी नाम क्यों न दिया जाए, वे लोग समर्थन करते हैं जो लोकतंत्र की मद्धिम प्रगति से निराश हो चुके हैं और उन्हें यह संदेह है कि क्या वे इस कार्य में लगे हुए अनेक किसानों तक पहुंच सकेंगे और उनमें विश्वास उत्पन्न कर सकेंगे। करोड़ों किसानों का प्रबध करना अपेक्षाकृत आसान है यदि उन्हें कुछ हजार संयुक्त अथवा सहकारी फार्मों में एकत्र किया जाए लेकिन ऐसा करने से प्रजातंत्र के कम होने की जो कीमत अदा करनी होगी वह बहुत अधिक सिद्ध होगी।

परन्तु जापान, जर्मनी, इंगलैंड और स्केण्डेनेविया के देशों में सहकारी समितियां तभी सफल होंगी जब वे लोगों की अपनी उत्कट इच्छा के फलस्वरूप बनाई जाएं। लोगों की यह उत्कट इच्छा उनकी अपनी आम आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा संतोष के लिए श्रेष्ठ होती है। भारत को छोड़कर विश्व के किसी भी देश में सरकारी विकास द्वारा सहकारिता आंदोलन को चलाया जाना उपयुक्त विषय नहीं माना जाता। हमारे राजनीतिक नेताओं और अर्थव्यवस्था के आयोजकों को यह महसूस करना चाहिए कि हमारी मानवीय कमियां भी हैं। अतः हमारे समाज में वास्तविक सहकारी समितियों को स्थापित कराने में कई वर्षों का समय लग जाएगा। इसलिए मद्धिम गति होने पर ही उनसे अच्छा काम कराया जा सकेगा।

6

कृषि में पूंजी-अभाव

श्री आर्थर ई० मॉरगेन, अध्यक्ष टैनैसी वेली अथॉरिटी, यू० एस० ए०, और सदस्य, विश्वविद्यालय आयोग, भारत सरकार ने 1949 में विश्वविद्यालय आयोग के कार्य के संबंध में तैयार किए गए अपने ज्ञापन में कहा था :

> "भारत के अधिकांश भाग में गांव बहुत प्राचीन हैं और वे मनुष्यों के रहने के योग्य नहीं हैं। गांव में पैदा हुए लोगों का यह आम विश्वास है और वे शिक्षा से वंचित रह गए हैं। शायद ही गांव से आने वाला कोई विद्यार्थी जो किसी विश्वविद्यालय से ग्रेजुएट हो जाता है, अपने गांव को वापिस जाता है। भारत का भ्रमण करते हुए हमने उन कई लोगों से, जो गांव से आए हैं, यह प्रश्न पूछा है कि वे गांव लौटकर गांव को वापिस क्यों नहीं गए। अप्रत्यक्ष और भावना से भरे हुए उनके उत्तरों को खुलकर देखा जाए तो लगभग सभी जगह एक-से हैं; कि गांव मनुष्यों के रहने के योग्य नहीं है। भारत के विभिन्न भागों में बसे गांवों को देखने के बाद हम इस मत के कारण जान सकते हैं। भारत के छः गांवों में से शायद कई हजार गांवों के संबंध में यह वक्तव्य लागू नहीं होता। कुछ क्षेत्रों में गांवों में उचित प्रकार के रहने योग्य आवास हैं लेकिन, मुख्य रूप से, लोगों की धारणा सही है। डेढ़ सौ वर्षों से अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान, पढ़े-लिखे लोग, धनी और महत्त्वाकांक्षी लोग गांव से धीरे-धीरे बाहर आ चुके हैं। ये वही व्यक्ति हैं जिन्होंने इस विश्वास पर गांव छोड़ा है कि गांव उनके रहने योग्य नहीं है, यद्यपि उन्होंने अपनी इस धारणा को शब्दों में व्यक्त नहीं किया है…
>
> "यदि शहरों ने सरल ढंग से गांव की औसत वर्ण-संकर जनसंख्या को अपनाया है तो शहरों के लोग इस बात से बहुत कम चिंतित हुए हैं लेकिन स्थिति ऐसी नहीं है। किसी भी गांव से शहरों में आने वाले लोग चुने हुए होते हैं। कुछ लोग अलग-अलग वर्गों से निकलकर वहां जाते हैं लेकिन गांव से

निकलने वाले सबसे अधिक व्यक्ति वही होते हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान, शिक्षित और साधन संपन्न हों। जैसे-जैसे गांव की जनसंख्या अधिक मंदबुद्धि, अल्पतेजस्वी और अधिक अकर्मण्य बनती जाती है। उनके सांस्कृतिक संसाधन निर्बल होते जाते हैं।"

आज भी भारत के गांव की दशा वैसी ही है जैसी कि 30 वर्ष पूर्व थी जब श्री मार्गन ने अपना ज्ञापन तैयार किया था। स्वतंत्रता प्राप्ति से भी सामान्य दशा में बहुत अंतर आया है अथवा बिल्कुल ही अंतर नहीं हुआ है।

शायद ही संसार में कोई ऐसा देश हो जहां शहरों की सुकोमल और उच्च शिक्षा प्राप्त अल्प जनसंख्या और ग्रामीण समुदाय की भूखी, अंधविश्वासी और बिल्कुल भी न बदलने वाली विशाल जनसंख्या में इतना भारी अंतर हो। वास्तव में भारत की दो दुनिया हैं — ग्रामीण और शहरी।

1971 की जनगणना के अनुसार हमारे देश के 80 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं; उत्तर प्रदेश के आंकड़े 86 प्रतिशत हैं। इस प्रकार ग्रामीण ही हैं जो 'विशाल जनता' के द्योतक हैं अर्थात् वे भारत के लोग हैं। यदि सरकार के प्रयत्नों और साधनों की परीक्षा की जाए तो केवल यह जांच करना उपयुक्त होगा कि ग्रामीणों के जीवन स्तर को सुधारने में वह कितनी सक्षम रही है। गांधीजी के मुख्य विचारों में से एक विचार यह था कि नगरों के द्वारा अपने हित में गांव का शोषण किया जाता है। उनका यह सपना था कि इस शोषण का अंत कर दिया जाए, लेकिन आज तक यह सपना साकार नहीं हो सका है।

नेहरू ने वस्तुत: इस देश की काफी सेवा की है क्योंकि उन्होंने इस देश में तकनीकी और औद्योगिक संवृद्धि का आधार स्थापित किया है। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है। कोई भी व्यक्ति इसे नहीं नकार सकता लेकिन उन्होंने इस औद्योगिकीकरण के प्रभाव को पूर्णतया नहीं सोचा। यदि उन्होंने इसके विषय में विचार किया होता तो औद्योगिकीकरण की उन्नति के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में भी काफी उन्नति होती। गांधीजी औद्योगिकीकरण की सचेत सीमाएं चाहते थे ताकि औद्योगिकीकरण के दुष्परिणामों से बचा जाए।

हमें अपने देश पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। कुछ शहर और गांव अच्छे तरीके से अस्वच्छता और अधिक आबादी से बढ़ गए हैं। स्वाभाविक रूप से व्यापारियों और उद्योगपतियों, कामगारों, व्यावसायिक बुद्धिजीवियों और नौकरशाही का शहरी वर्ग स्वाभाविक रूप से विकसित हो गया है। यही वर्ग राज्य शासन को नियंत्रित करता है। यह वर्ग शक्तिशाली है और इसी वर्ग का आधिपत्य है। उत्पादन के किंचित् आधुनिकीकरण के साथ ही उपभोग का अधिक आधुनिकीकरण भी हो गया है। विलास की वस्तुओं का उपभोग उस शहरी विकास के साथ आवश्यक है जो नेहरू ने किया है।

इस प्रकार एक ओर नगरों और दूसरी ओर गांवों में रहने वाले लोगों के उपभोग स्तरों, सुविधा स्तरों और सांस्कृतिक स्तर में भारी असमानता विकसित हो गई है। इस असमानता पर लिखते हुए गांधीजी ने कहा था :

"शहर गांव पर आश्रित रहते हैं। शहर के लोग यूरोप, अमरीका और जापान के बड़े-बड़े उद्योगों के लिए दलाल या कमीशन एजेंट हैं। शहरों के लोगों ने रुपया ऐंठने में इन देशों के साथ सहयोग किया है। मेरा यह विश्वास अनुभव पर आधारित है कि भारत प्रतिदिन गरीब होता जा रहा है। उसके पैरों और टांगों में रक्त-संचार लगभग बंद हो चुका है और यदि हमने इसकी देखभाल नहीं की तो यह देश लड़खड़ा कर गिर जाएगा।"

यह वक्तव्य आज भी उतना ही सत्य है, जैसा कि वह पचास वर्ष पूर्व या उससे पहले सत्य था केवल यूरोप, अमरीका और जापान के बड़े-बड़े उद्योग किसी हद तक भारतीय उद्योगों अथवा विदेशी उद्योगों को हटाकर भारतीय भूमि में स्थापित हो गए हैं।

अगस्त, 1980 में हिंदी मासिक पत्रिका 'कादम्बिनी' में संपादक ने पख्तून नेता खान अब्दुल गफ्फार खां के साक्षात्कार को प्रकाशित किया है। खान अब्दुल गफ्फार खां गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों के अग्रदूत थे। साक्षात्कार की कतिपय पंक्तियां इस प्रकार हैं:

"खान अब्दुल गफ्फार खां इस बात से प्रभावित नहीं हुए कि भारत ने औद्योगिक और तकनीकी उन्नति की है। उनका कहना था कि शहरी क्षेत्रों के कुछ ही लोगों तक इसका लाभ पहुंच पाया है और देश में अन्य लोगों तथा निर्धनों को कुल मिलाकर यह लाभ नहीं हुआ है।

"वह उन गांवों की वर्तमान दशाओं को देखकर अधिक दुःखी हुए जो कुत्तों के रहने तक के लिए उपयुक्त नहीं हैं।"

भारत के गत तीस वर्षों को अप्रत्याशित और तुरत समृद्धि तथा विकास का काल माना जाता है। पिछले 25 वर्षों में औद्योगिक उत्पादन चौगुना हो गया है। इसके सूचकांक 1951 में 29.7 से बढ़कर 1975 में 118.8 (1970 = 100) तक तो गए हैं, अर्थात् प्रति वर्ष 12.5 प्रतिशत(साधारण)की वृद्धि हुई है। यदि 1970-71 को आधार वर्ष मान लिया जाए तो यह 1960-61 में 55 से बढ़कर 1978-79 में 150 हो गई, यानी 172.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। जापान (38 प्रतिशत) के विशेष मामले को छोड़ते हुए यह वृद्धि इटली (16 प्रतिशत) की सीमा से कम है और बेल्जियम (4.8 प्रतिशत), कनाडा (9.7 प्रतिशत), फ्रांस (9.6 प्रतिशत), इंग्लैंड (3.10 प्रतिशत) और अमरीका (5.6 प्रतिशत) के औद्योगिक प्रसार से कहीं अधिक तीव्र है। 'प्रगति का साक्ष्य' अधिकांशतया इस बात से विदित होता है कि भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सुपर सैनिक वायुयान की बढ़ती हुई संख्या, न्यूक्लीयर उर्जा का नागरिक उपयोग, स्टील और बिजली का उत्पादन, मशीनों को बनाने के लिए मशीन, समुद्री लाइनरों के चलाने के लिए जहाजी यार्ड, तकनीशियनों की अधिकांश संख्या और कम विकसित देशों को जानकारी देने जैसे अनेक कार्य हुए हैं।

देखने में यह उपलब्धि उल्लेखनीय है लेकिन इस उपलब्धि की सतर्कता से जांच की जाए तो यह विदित होगा कि संसाधनों, कुल उत्पादन, रोजगार और आय के लिए बहुत महंगी सिद्ध हुई है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि चाहे ऊपर दी गई बातें कैसी क्यों न हों, आज भारत के आधे लोग भूमिहीन श्रमिकों अथवा एक या दो एकड़ भूमि से गुजर करने वाले किसान अपने अस्तित्व को मुश्किल से बचा पा रहे हैं। इन लोगों को अपनी आय बढ़ाने के लिए मजदूरी करनी पड़ती है (देखिए अध्याय पांच 'भूमि प्रणाली')। इनमें से अधिकांश गांव के रहने वाले लोग अभी तक कृषि पर निर्भर रहे हैं जिसके लिए सिंचाई, अथवा उर्वरकों या उपकरणों की कमी रही है। इसलिए उन्हें इतना खराब भोजन मिल पाता है कि वे दक्षता से काम नहीं कर सकते और कई मामलों में अपने बच्चों को उतना खिलाने में असमर्थ रहते हैं जो उन बच्चों की शारीरिक दुर्बलताओं और शायद उनकी बुद्धि के ह्रास को बचाने में कारगर हो। इनमें से कुछ ही बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं। इन बच्चों में से 10 वर्ष की आयु होने तक 4 बच्चों में से एक बच्चा अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। शेष लोग अधिक परिश्रम, कम भोजन, अज्ञानता और रोगपीड़ित होकर अपना जीवन ठीक उसी प्रकार व्यतीत करते हैं जैसे कि वे 30 या 300 वर्ष पूर्व रहते थे। वे प्रायः उन्हीं उधार देने वाले परिवारों से ऋण (40 प्रतिशत या इससे अधिक वार्षिक ब्याज की दर पर ऋण) लेते हैं जैसे कि उनके पुरखों ने किया था और जमींदारों के उन्हीं परिवारों को अपनी फसलों का आधा उत्पादन समर्पित कर देते हैं।

ऊपर दी गई स्थिति की व्याख्या इस तथ्य में निहित है कि बढ़ा-चढ़ाकर बताई जाने वाली प्रगति के अधिकांश भाग की सुव्यवस्थित संवृद्धि नहीं हुई है जो कि आर्थिक प्रक्रिया अथवा आर्थिक शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से होती है बल्कि यह एक लादी गई संवृद्धि है जो ऐसी विचारधारा से उत्पन्न हुई है जिसने हमारे उत्पादन कारकों की स्थायी निधि के निहितार्थों की अवहेलना की है। उत्पादन-लाइसेंसों, पूंजी पर नियंत्रण, ऋण-सुविधाओं और राज-सहायताओं तथा औद्योगिक उत्पादनों के निर्यात-प्रोत्साहन के जरिए औद्योगिक उत्पादन के प्रसार पर अधिक जोर दिया गया है।

दूसरी ओर, भारत के आयोजकों ने सिद्धांततः यह स्वीकार किया कि अविच्छिन्न, स्वतः उत्पादक औद्योगिक प्रगति के लिए दक्षतापूर्ण कृषि-प्रणाली का सृजन अनिवार्य पूर्व शर्त है लेकिन व्यवहार में उन्होंने भूमि की अवहेलना की। समान अवधि, 1951-75 में कृषि उत्पादन में 87.7 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई अर्थात् केवल 3.65 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। 1969-70 के अंत तक तीन वर्षों की आधार अवधि में कृषि-उत्पादन 1960-61 में 86.7 से बढ़कर 1978-79 में 138.9 हो गया अर्थात् 60.0 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यद्यपि भारत सरकार बराबर कृषि के लिए सर्वोच्च प्राथमिकता की बात कहती थी और उसने उत्पादन के महत्वाकांक्षापूर्ण लक्ष्य निर्धारित किए लेकिन हमारी योजनाओं में कृषि के लिए आवंटित सार्वजनिक पूंजी-लागत बहुत ही कम निर्धारित की गई और निजी पूंजी भी बहुत कम प्रदान की गई अथवा उसे कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया। इस अवधि में शासक कांग्रेस दल के किसी उत्तराधिकारी

ने भी कृषि के लिए अपेक्षाकृत अधिक वित्तीय संसाधनों पर इसलिए बल नहीं दिया कि कहीं दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी करार न दे दिया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी जनता के मुश्किल से 2 प्रतिशत (सही अर्थों में, 1.7 प्रतिशत) लोगों के पास ही इतनी क्रयशक्ति थी कि वे उद्योग द्वारा उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं को खरीद सकें।

माइकेल लिपटन ने अपनी पुस्तक 'एग्रीकल्चर : अरबन बायस एण्ड रूरल प्लानिंग' में ठीक ही लिखा है :

> "भारतीय कृषि-नीति से बहुत बड़ा विरोधाभास प्रकट होता है। कृषि के लिए समर्पित कुल योजना संसाधनों का भाग सभी चारों योजनाओं में कम होता गया है; फिर भी आयोजक कृषि के महत्त्व पर जोर देते हैं; वे अपर्याप्त निवेशों की व्यवस्था करके उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति पर जोर देते हैं। इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण भारतीय योजना के शहरी रूप और भारतीय सामाजिक-आर्थिक प्रणाली में निहित है। औद्योगिक नियोक्ताओं का शहरी विशिष्ट वर्ग और संघबद्ध कर्मचारियों तथा उनके ग्रामीण बंधुओं सहित नगरोन्मुख बड़े-बड़े किसानों ने आयोजकों और नीति-निर्माताओं को अधिक प्रभावित किया है और इस प्रकार निर्मित नीति अधिकांशतया इस महान् गठ-बंधन के हित को साधती है। अशिक्षित छोटे-छोटे किसानों के विशाल असंगठित बहुमत की सुनवाई नही होती।"

शिकागो विश्वविद्यालय, अमरीका के थियोडोर शुल्ज़ और वैस्ट इंडीज में जन्मे प्रिंसटन के ब्रिटिश नागरिक सर आर्थर लुईस, जिन्हें 16 अक्टूबर, 1979 को अर्थ-शास्त्र में, एक अर्थशास्त्री के दुःस्वप्न के शोध पर 1979 में नोबेल पुरस्कार मिला था। यह शोध-कार्य था— विकासशील देशों की औद्योगिकीकरण करने की समस्याएं और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कृषि के क्षेत्र में की गई लापरवाही कई विकासशील देशों में मद्धिम प्रगति के लिए उत्तरदायी है।

नोबल कमेटी के सदस्य असर लिंडबेक ने कहा कि दोनों ही अर्थशास्त्रियों को यह विश्वास था कि राजनीतिज्ञों की शक्ति और नियंत्रण बनाए रखने में रुचि होती है, जबकि किसान कार्यदक्षता में ही रुचि रखता है।

उदाहरण के लिए, लुईस ने शहरों में लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए खाद्यान्न के मूल्यों को कम करने वाली नीतियों के लिए राजनीतिज्ञों की आलोचना की जिससे कृषि के मूल्यों में कमी आ गई है। किसानों के लिए विस्तार करने अथवा निर्देश करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया है।

> "उन दोनों ने तीसरे विश्व की उन नीतियों की आलोचना की जिन्होंने बड़े-बड़े संयंत्रों की स्थापना का समर्थन किया था। उदाहरण के लिए, स्टील

और एयर लाइन कम्पनियों की आलोचना की जो अपने बड़े-बड़े उद्यमों और उद्योग के पक्ष में कृषि से धन लिया करती हैं।"[1]

केन्द्र, राज्यों और संघीय राज्य क्षेत्रों के स्तर पर कुल मिलाकर विकासाध्यक्षों ने जो योजना-व्यय किया है और उसके वितरण की प्रतिशतता तालिका 54 में दिखायी गयी है।

द्रष्टव्य है कि अप्रैल, 1956 में दूसरी योजना के प्रारंभ करने के समय से निवेश के प्रारूप में बहुत कम परिवर्तन किया गया है या बिल्कुल ही परिवर्तन नहीं किया गया है, यद्यपि देश में खाद्यान्न की स्थिति बाद में पहले की अपेक्षा अधिक नाजुक हो गई है। सार्वजनिक क्षेत्रक में कृषि का व्यय पहली योजना के 37.0 प्रतिशत से घटकर दूसरी योजना में 20.9 प्रतिशत हो गया है जबकि उद्योग और खनन में पहली योजना के 4.9 प्रतिशत से बढ़कर दूसरी योजना में 24.1 प्रतिशत हो गया है। पांचवीं योजना (1974-78) में दोनों आंकड़े क्रमशः 21.2 प्रतिशत और 25.5 प्रतिशत हो गए हैं। जनता सरकार के शासन में दूसरे वर्ष ही पहली बार अर्थात् 1978-79 में उद्योग की अपेक्षा कृषि के आंकड़ों में वृद्धि हुई है अर्थात् यह 22.6 प्रतिशत की तुलना में 25.0 प्रतिशत है।

ऊपर दिए गए आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि कृषि में देश की 72 प्रतिशत कार्यशील जनता लगी रहती है और 8 वर्षों की अवधि (1970-78) में जो औसत लगाया गया है उससे यह विदित होता है कि राष्ट्रीय आय में लगभग 46 प्रतिशत का योगदान हुआ है और कुल निर्यात के आधे से अधिक भाग में कच्चा माल भी है। फिर भी, कुल योजना-व्यय के 25 प्रतिशत से कम का आवंटन किया गया है (सिवाय इसके कि पहली योजना की अवधि को छोड़ दिया जाए) जबकि उद्योग और खनन में कार्यशील जनता का 10 प्रतिशत से अधिक भाग रोजगार नहीं पाता और जिससे राष्ट्रीय आय में लगभग 16 प्रतिशत का योगदान हुआ है लेकिन इसके लिए कृषि की अपेक्षा लगाई गई पूंजी से सामान्यतया अधिक पूंजी का आवंटन किया गया है अथवा यों कहना चाहिए कि इसके लिए इतनी अधिक पूंजी लगाई गई है जितनी कि इसके लिए नहीं लगाई जानी थी।

योजना-व्यय के मामले में ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक सेवाओं के लिए अंतरण भुगतानों की दृष्टि से भी औद्योगिक क्षेत्रक के लिए सदैव ही पक्षपात का व्यवहार किया गया है, जैसा कि तालिका 55 में दिखाया गया है।

1. 'इन्टर नेशनल हैरल्ड ट्रिब्यून', 17 अक्टूबर, 1979; ज्यूरिच से प्रकाशित।

तालिका 54

1951-52 से 1973-74 के दौरान विकास अध्यक्षों द्वारा योजना व्यय

(करोड़ों रुपए)

विकास के शीर्ष	पहली योजना 1951-56		दूसरी योजना 1956-61		तीसरी योजना 1961-66		वार्षिक योजनाएं 1966-67 से 1968-69		चौथी योजना 1969-74	
	व्यय	कुल का%	व्यय	कुल का%	व्यय	कुल का%	व्यय	कुल का%	व्यय	कुल का%
कृषि और उससे संबंधित क्षेत्रक	290.0	14.8	549.0	11.7	1088.9	12.7	1107.1	16.7	2320.4	14.7
सिचाई और बाढ़ नियंत्रण	434.0	22.2	430.0	9.2	664.7	7.8	471.0	7.1	1354.1	8.6
बिजली	149.0	7.6	452.0	9.7	1252.2	14.6	1212.5	18.3	2931.7	18.6
ग्राम और लघु उद्योग	48.0	2.1	187.0	4.0	240.8	2.8	126.1	1.9	242.6	1.5
उद्योग और खनिज	55.0	2.8	938.0	20·1	1726.3	20.1	1510.4	22.8	2864.4	18 2
परिवहन और संचार	518.0	26.4	1261.0	22 0	2111.7	24.6	1222.4	18.5	3080.4	19.5
शिक्षा					588.7	6.9	306.8	4.6	774.3	4.9
वैज्ञानिक अनुसन्धान	149.0	7.6	273.0	5.9	71.6	0.8	47.1	0.7	130.8	0.8
स्वास्थ्य					225.9	2.6	140.2	2.1	335.5	2.1
परिवार नियोजन	98.0	5.0	228.0	4.8	24.9	0.3	70.4	1.1	278.0	1.8
जलपूर्ति और सफाई										
आवास और सफाई	33.0	1.7	85.0	1.8	105.7	1.2	102.7	1.5	458.9	2.9
आवास शहरी और					127.6	1.5	73.3	1.1	270.2	1.7
क्षेत्रीय विकास										
पिछड़ी जातियों का										
कल्याण समाजकल्याण,	32.0	1.6	83.0	1.8	99.1	1.2	73.6	1.1	164.4	1.1
श्रम कल्याण और					19.4	0.2	11.9	0.2	64.4	0.4
बढ़ईगीरी की शिक्षा					55.8	0.7	34.8	0.5	31.1	0.2
अन्य कार्यक्रम	160.0	8.2	186.0	4.0	173.1	2.0	115.8	1.7	477.4	3.0
जोड़	1960.0	100.0	4672.0	100.0	8576.5	100.0	6625.4	100.0	15778.8	100.0

(क्रमशः)

विकास अध्यक्षों द्वारा नियोजित प्रारूप/व्यय 1974-75 से 1979-80

(करोड़ों रुपए)

शीर्ष	कुल व्यय, 1974-78		पचवर्षीय योजना 1978-83			
			1978-79		1979-80	
	पूर्वानुमानित व्यय	कुल का %	प्रारूप	कुल का %	प्रारूप	कुल का %
कृषि और संबंधित क्षेत्र	3416.94	11.8	1745.76	15.0	1815.22	14.5
सिंचाई और बाढ़-नियंत्रण	2730.94	9.4	1160.60	10.0	1260.05	10.0
बिजली	5421.59	18.7	2196.86	10.9	2395.99	19.1
गांव और लघु उद्योग	386.49	1.4	219.05	1.9	289.48	2.3
उद्योग और खानज	6973.21	24.1	2413.90	20.7	2547.10	20.3
परिवहन और दूर संचार	5225.56	18.0	1794.23	15.4	2135.61	17.0
शिक्षा	1214.39	4.2	413.81	3.6	273.77	2.2
वैज्ञानिक अनुसंधान			138.35	1.2	110.67	0.9
स्वास्थ्य	532.62	1.8	281.53	2.4	268.18	2.1
परिवार-नियोजन	377.04	1.3	111.72	0.9	116.19	0.9
जलपूर्ति और सफाई	753.42	2.6	339.37	2.9	429.52	3.4
आवास, शहरी और क्षेत्रीय विकास	785.61	2.7	305.78	2.6	301.80	2.4
पिछड़ी जातियों का कल्याण	234.18	0.8	96.12	0.8	89.65	0.7
समाज कल्याण और पोषण	123.21	0.4	64.80	0.6	55.15	0.5
श्रम कल्याण और बढ़ईगीरी की शिक्षा	31.02	0.1	17.34	0.1	21.69	0.2
अन्य कार्यक्रम	785.17	2.7	351.55	3.0	439.56	3.5
कुल	28991.39	100.0	11650.17	100.0	12549.63	100.00

तालिका 55

केन्द्रीय बजट में उपलब्ध आर्थिक सहायता का विवरण

(करोड़ों रुपए)

	1976-77 वास्तविक	1977-78 वास्तविक	1978-79 संशोधित अनुमान	1979-80 संशोधित अनुमान
1. खाद्यान्न आर्थिक सहायता	506	480	570	600
2. उर्वरक सहायता	112	266	365	643
(i) देसी फास्फेटिक उर्वरक	60	82	94	20
(ii) निरोध कीमत योजना	—	25	89	246
(iii) उर्वरक के भाड़े में आर्थिक सहायता	—	—	—	38
आयातित उर्वरक	52	159	182	144
3. चीनी के निर्यात पर हुई हानि सहित निर्यात के लिए आर्थिक सहायता	269	327	414	363
4. नियंत्रित कपड़े का वितरण	—	16	47	52
5. हाथ के बने कपड़े पर आर्थिक सहायता	4	8	11	22
6. सूत का आयात	11	44	2	15
7. कोयले की खानों का संरक्षण और कोयले का परिवहन	8	20	18	18
8. औद्योगिक संस्थानों को ब्याज के बदले में आर्थिक सहायता	58	76	27	17
9. जहाज-निर्माण और जहाज कंपनियों को चलाने के लिए आर्थिक सहायता	3	6	28	22
10. भारत स्वर्ण खानें	6	10	10	10
11. योजना में सम्मिलित *आर्थिक सहायता	30	44	55	82
12. अन्य आर्थिक सहायता	29	55	46	25
कुल	1036	1353	1595	1603

*वर्ष 1979-80 में 19 करोड़ के सहित लघु सिंचाई के लिए यह मद।

जबकि, आगे संशोधन करने के बाद वर्ष 1978-79 में वास्तविक आंकड़े कम होकर 1,504 करोड़ रुपए हो गये और वर्ष 1979-80 में ये आंकड़े बढ़कर 1930 करोड़ रुपये हो गये।

'खाद्यान्न राज्य सहायता' के नाम से जाना जाने वाला व्यय ग्रामीण अथवा कृषि क्षेत्रक के बदले में नहीं गिना जा सकता : ग्रामीण क्षेत्रों में 32 प्रतिशत राशन की दुकानें हैं इसकी तुलना में शहरी क्षेत्रों में 68 प्रातशत राशन की दुकानें हैं। इस प्रकार 'खाद्यान्न राज्य सहायता' की राशि को भी वितरित करना होगा और इन दो क्षेत्रकों में अनुपात की दृष्टि से स्थिर करना होगा। कृषि क्षेत्रक की तुलना में छोटे-छोटे सिंचाई-साधनों के लिए 16 करोड़ रुपए की राज्य सहायता का आकलन करते हुए वर्ष 1979-80 के लिए कृषि और कृषीतर क्षेत्रकों में क्रमश: राज्य सहायता के रूप में 646 करोड़ रुपए और 957 करोड़ रुपए की राशि का हिसाब लगाया गया है। कृषि कामगारों (72 प्रतिशत) में से प्रत्येक व्यक्ति और कृषीतर कामगारों (28 प्रतिशत) में से प्रत्येक व्यक्ति की राज्य-सहायता का अनुपात 9:34 का हिसाब लगाया गया है जबकि पाठक को आगामी अध्यायों से यह पता लगेगा कि प्रति व्यक्ति आय का अनुपात 1:3.5 रहा है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि कृषीतर क्षेत्रक को स्पष्ट रूप से अनुदान और राज्य सहायताएं प्रदान की गई हैं लेकिन इनके अतिरिक्त शहरी क्षेत्रों के इन विशेष समूहों के लिए अन्य कई अदृश्य सहायताएं दी गई हैं और रियायती ब्याज की दरों पर ऋण दिए गए हैं, आवासन तथा परिवहन और शिक्षा संबंधी सुविधाएं प्रदान की गई हैं तथा इसी प्रकार की अन्य सुविधाएं दी गई हैं। उदाहरणार्थ, रेलवे क्षेत्रक के वर्ष 1971-78 में 114 करोड़ रुपए की राज्य सहायता मिली जिसका ऊपर दी गई तालिका में उल्लेख नहीं किया गया है। इस राज्य सहायता को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

तालिका 56

वर्ग	धनराशि (करोड़ों में)
आवश्यक जन-उपभोग की वस्तुओं के लाने, ले जाने जाने पर हानि	41
उप-शहरी और अन्य यात्री तथा कोचिंग सर्विस पर हानि	73
जोड़	114

कतिपय जन उपभोग की वस्तुएं खाद्यान्न, नमक और कोयला हैं जिन्हें कम लागत पर ले जाया जाता है।

कृषि और उद्योग-ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के मध्य आवंटनों के सही अनुपात निकालने के लिए बिजली, शिक्षा, चिकित्सा सहायता, सड़क और परिवहन आदि पर

किए गए कुल व्यय को दोनों क्षेत्रकों में उसी अनुपात से जोड़ना होगा जिस अनुपात में ये सेवाएं उन श्रमिकों को उपलब्ध की जाती हैं। फिर भी, इन दोनों क्षेत्रकों में विद्युत शक्ति को छोड़कर अलग-अलग निवेश से संबंधित आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। तालिका 57 में यह दिखाया गया है कि 1976-77 में जो विद्युत शक्ति देश में पैदा की गई थी उसमें से उद्योग में उपयोग की गई 62.47 प्रतिशत की तुलना में केवल 14.44 प्रतिशत विद्युत शक्ति कृषि के लिए उपयोग में लाई जा सकी।

तालिका 57

ऊर्जा बिक्री—1976-77 (वर्गवार)

क्रमांक	वर्ग	1976-77 में बिक्री की गई ऊर्जा (मिगा किलोवाट)	कुल बिक्री की प्रतिशतता
1.	घरेलू	6336.56	9.51
2.	वाणिज्यिक	4141.92	6.22
3.	औद्योगिक विद्युत	41605.63	62.47
4.	जन प्रकाश	594.24	0.89
5.	रेलवे/ट्रामवे	2167.72	3.25
6.	कृषि	9620.63	14.44
7.	लोक जल-प्रदाय कार्य और मल-जल निकासी	1444.13	2.17
8.	विविध	69[illegible].74	1.05
		66608.57	100.00

दोनों क्षेत्रकों में काम पर लगे श्रमिक दल को अनुपात से विभाजित करें तो यह पता चलता है कि देश में कुल मिलाकर कृषि को 1/5 भाग ($\frac{72.0}{5}=14.4$) की विद्युत-शक्ति मिल सकी है और कृषीतर क्षेत्रक को विद्युत-शक्ति का 85.6 प्रतिशत भाग मिला है, अर्थात् कृषीतर क्षेत्रक को जितना भाग मिलना चाहिए था, उससे तीन गुना (28.0 × 3 = 84 प्रतिशत) भाग मिला है। औद्योगिक क्षेत्रक को ही (खनन सम्मिलित करते हुए), जिसमें देश के कुल कारीगरों में से 10 प्रतिशत कामगार काम पर लगे हैं, कृषि क्षेत्रक की तुलना में कुल मिलाकर 4 गुनी विद्युत शक्ति मिली है, जबकि कृषि क्षेत्रक में 72 प्रतिशत कामगार काम पर लगे होते हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि फार्म क्षेत्रक को केवल 8 प्रतिशत डीजल की आपूर्ति होती है।

इससे पूर्व दिए गए विवरण में वह कंजूस की तरह का व्यवहार दिखाया है जो सरकार से कृषि क्षेत्रक को अन्य क्षेत्रकों की अपेक्षा वित्तीय आवंटनों में मिला है। परन्तु

पाठक को तालिका 58(पृ० 207) से यह विदित होगा कि कृषि को वैसा व्यवहार निजी क्षेत्रक से भी नहीं मिला है जो उसे मिलना चाहिए था। निजी तौर पर काम करने वाले व्यक्तियों को प्रशासकीय आदेशों और मूल्य-विकृतियों ने अपरोक्ष रूप से इतना उत्साहित कर दिया है कि वे ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र में अपने संसाधनों का स्थानांतरण कर रहे हैं।

एक ओर कृषि की प्रकृति और दूसरी ओर उद्योग तथा वाणिज्य में अन्तर होने के कारण इन दोनों क्षेत्रकों में पूंजी के हस्तांतरण की दर में अन्तर है। भारी उद्योग को छोड़कर, व्यापारी और उद्योगपति लगी पूंजी को एक वर्ष में कई बार अपने काम में लगा लेते हैं। परंतु किसान को अपनी पूंजी को पुन: लगाने के लिए कई वर्ष लग जाते हैं। उद्योग और वाणिज्य का प्रचालन प्रतिदिन होता है, लेकिन कृषि के क्षेत्र में निवेश की गई राशि पर लाभ पाने के लिए महीनों लग जाते हैं और कुछ मामलों में एक या दो वर्ष लग जाते हैं। उद्योग और व्यापार की तुलना में कृषि में उत्पादन अवधि, जिसमें उत्पाद को बाजार में भिजवाने और लाभ कमाने से पूर्व लागतें चुकानी पड़ती हैं, अपेक्षाकृत अधिक होती है।

इस प्रकार यदि किसान को समृद्ध होना है तो उसे सस्ती दरों पर और दीर्घकालीन ऋणों के लिए जाने का आश्वासन मिलना चाहिए। यही कारण है कि विश्व भर में सरकारों ने यह उचित समझा है कि कृषि की वित्तीय आवश्यकताओं के लिए विशेष विधायी उपाय निकाले जाएं जिनमें विशेष रूप से दीर्घकालीन और तात्कालिक ऋण का प्रावधान हो अथवा किसान स्वयं सहकारी ढंग से अपने ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न कर लें। परंतु, जैसाकि पाठक को विदित होगा, भारत में न तो राज्य सरकार और न सहकारी आंदोलन किसानों की आशाओं अथवा समय की मांग को पूरा करने में आगे बढ़े हैं।

जब बैंकों और जीवन-बीमा व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया गया था, उस समन सामान्य रूप से कृषि, छोटे पैमाने के उद्योगों और आम आदमी के व्यापार के लिए यह कदम लाभकारी सोचा गया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भी शाखाएं खोली गई थीं। फिर भी इस बारे में सरकारी अपेक्षाओं को सफलता नहीं मिली है। कृषीतर क्षेत्रकों को ही संस्थागत ऋण के लाभ प्राप्त हुए हैं।

चाहे विभिन्न प्रकार के बैंकों के अलग-अलग नाम पाठक को भ्रम में डाल दें, फिर भी यहां पर स्पष्ट करना उपयुक्त होगा कि अनुसूचित बैंक वे बैंक हैं जिन्हें रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया एक्ट की दूसरी अनुसूची में शामिल किया गया है। इनमें केवल सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंक और प्रादेशिक ग्रामीण बैंक ही शामिल नहीं किए जाते बल्कि कतिपय राज्य सहकारी बैंक और निजी क्षेत्रक के बैंक भी शामिल किए जाते हैं। ये सभी बैंक वाणिज्यिक बैंक हैं जिन्हें सहकारी बैंकों से अलग किया जाता है।

दिसम्बर, 1978 में बैंकों में जमा की तुलना में बैंक ऋण का अनुपात ग्रामीण

तालिका 58

विकास अध्यक्षों द्वारा निजी क्षेत्रक में कुल निवेश

(चालू कीमतों पर) (करोड़ रुपए)

विकास के शीर्ष	दूसरी योजना (1956-61)	तीसरी योजना (1961-66)	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74	1974-75	1975-76	1976-77
(क) कृषि और संबंधित क्षेत्रक (ख) सिंचाई महत्, साधारण, मध्यम और बाढ़ नियंत्रण	687.5	756.3	1030	939	1054	1185	1374	1394	1944
(ग) विद्युत शक्ति	44.0	47.3	14	16	14	(—)11	14	12	16
(घ) ग्राम और कुटीर लघु उद्योग	192.5	260.0	570	639	694	1103	1276	862	1284
(ङ) संगठित उद्योग और खनिज	742.6	992.7	942	1121	686	917	2302	2178	2094
(च) परिवहन और दूर संचार	148.5	236.4	316	303	294	429	395	340	359
(छ) सामाजिक सेवाएं व अन्य कार्यक्रम	1595.2	1583.6	1548	1755	1679	2737	2576	2591	3557
(ज) (ग) से (छ) तक का योग	2722.8	3120.0	3390	3834	3367	5175	6563	5983	7310
(झ) कुल योग	3410.4	3876.3	4420	4773	4421	6360	7937	7377	9254
(ञ) 'क' · 'ख' = 'झ' के प्रतिशत के रूप में			23.3	19.7	23.8	18.6	17.31	18.9	21.0

स्रोत : दूसरी और तीसरी योजना से संबंधित आंकड़ों के लिए, वी॰ आर॰ शैनी, पीएल-480, एड एड इण्डियाज फूड प्रॉबलम, ईस्ट-वैस्ट प्रेस, नई दिल्ली, 1974, तालिका 6.5, पृष्ठ 204-205; और 1970-77 की अवधि के दौरान आए आंकड़ों के लिए, 'नेशनल एकाउन्ट्स स्टैटिस्टिक्स', 1970-71—1976-77 (जनवरी, 1979).

क्षेत्रों में 57 प्रतिशत, अर्धशहरी क्षेत्रों में 49 प्रतिशत और नगरों तथा शहरों में 79 प्रतिशत था। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों ने सभी उद्देश्यों के लिए कुल ऋण पूरे देश में दिया, जिसमें से कृषि के लिए सीधा ही दस प्रतिशत था जबकि मध्यम और बड़े पैमाने के उद्योगों तथा निजी थोक व्यापार के लिए 50 प्रतिशत था। इस प्रकार राष्ट्रीयकृत बैंकों के कार्यालय कृषि ऋणों के बाजार में ऋण देने वाले स्रोतों की अपेक्षा, जैसा कि जनता ने अनुमान लगाया था, वास्तव में कई जल बटोरने वाले नलों जैसे बन गए क्योंकि उन्होंने ग्रामीण बचतों को ग्रामीण क्षेत्रकों से जमा किया और उन विधियों को वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योगों और संबंधित व्यापारों को वित्त-पोषण करने के लिए शहरी क्षेत्रों में लगा दिया। इस प्रकार यह बात देखने में विचित्र ही लगती है कि वाणिज्यिक बैंक कृषि क्षेत्रक में वित्तीय अभाव बढ़ाते हैं।

तालिका 59 (पृ० 209) और 60 (पृ० 211) से विदित होगा कि जून 1969 में अंत होने वाले वर्ष में कृषि अन्य अवहेलित क्षेत्रकों को सार्वजनिक क्षेत्रकों के बैंकों से कुल अग्रिम राशि 14.9 प्रतिशत मिली। जिसमें से कृषि का भाग, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप से 5.5 प्रतिशत था तथा जून 1978 में अर्थात् बैंकों में राष्ट्रीयकरण के 9 वर्षों की अवधि के बाद कृषि क्षेत्रक का भाग बढ़कर केवल 12.6 प्रतिशत हो गया जिसमें से 9.4 प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष और 3.2 प्रतिशत अप्रत्यक्ष था।

बैंक ऋण केवल कृषि क्षेत्रक के लिए ही संकोची नहीं थे बल्कि वे इसकी तुलना में छोटे-छोटे किसानों के लिए भी अपेक्षाकृत अधिक संकोची रहे, जैसा कि तालिका 60 में दिखाया गया है।

कृषि के लिए प्रत्यक्ष अग्रिम राशियों में (तालिका 59) वे सभी अग्रिम राशियां शामिल हैं जो संबंधित कार्यकलापों (यथा—डेरी, मुर्गी पालन, मत्स्य पालन आदि) के लिए दी गई हैं जबकि तालिका 60 में दिखाए गए आंकड़े केवल कृषि क्रियाकलापों के संबंध में ही हैं।

सितम्बर, 1974 में छोटे-छोटे किसानों को (वे किसान जिनके पास 5 एकड़ तक भूमि थी), कुल बकाया अग्रिम राशियों का 28 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ। उन्होंने उधार खातों के 60 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व किया। जिन किसानों के पास 10 एकड़ से अधिक भूमि थी, उन्होंने कुल बकाया अग्रिम राशियों का 52 प्रतिशत भाग प्राप्त किया और उन्होंने उधार-खातों के 21 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व किया। सितम्बर, 1978 में कुल बकाया अग्रिम राशियों में छोटे-छोटे किसानों का भाग बढ़कर केवल 37.0 प्रतिशत हो गया, जबकि बड़े-बड़े किसानों का भाग 45 प्रतिशत था।

इसलिए यद्यपि कृषि और सम्बन्धित कार्यकलापों तथा कुटीर उद्योगों आदि के लिए ऋण उन अनुसूचित बैंकों से प्राप्त हो सके जिनमें नागरिकों ने धन जमा किया था ताकि एक विशिष्ट वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके, यथा छोटे और सीमांत किसान, कारीगर और ग्रामीण क्षेत्रों के कमजोर वर्ग के लोग, फिर भी यह निर्णय किया गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी प्रादेशिक ग्रामीण बैंक स्थापित किए जाएं।

अक्टूबर 1975 में पहले दौर में 5 प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना की

तालिका 59

सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों द्वारा
अब तक उपेक्षित अन्य क्षेत्रकों और कृषि को अग्रिम राशियां

(करोड़ों रुपए)

क्षेत्रक	जून 1969		जून 1974		जून 1975		जून 1976		जून 1977		जून 1978*	
	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि
1 2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
1. कृषि	160020	40.21	1630127	391.58	2066316	511.47	3063952	726.32	3986010	950.70	4712072	1235.08
(क) प्रत्यक्ष वित्त †		(1.4)		(5.8)		(6.7)		(7.3)		(8.2)		(9.4)
(ख) अप्रत्यक्ष वित्त‡	4461	122.12	253644	194.10	323425	256.55	372154	277.61	560294	324.38	590119	421.76
		(4.1)		(2.9)		(3.3)		(2.8)		(2.8)		(3.2)
2. कुटीर लघु उद्योग†	50850	251.07	201409	868.33	229031	942.67	288329	1099.15	430434	1315.29	526451	1640.95
		(8.5)		(13.0)		(12.3)		(11.1)		(11.3)		(12.4)
3. सड़क परिवहन प्रचालक	2324	5.49	63572	83.37	73446	113.37	107895	193.40	170415	252.78	196800	305.52
		(0.2)		(1.2)		(1.5)		(1.9)		(2.2)		(2.3)
4. फुटकर व्यापार औरलघु कारोबार	33241	19.37	319682	117.68	390228	134.23	560770	174.24	889215	225.86	1013682	295.43
		(0.6)		(1.8)		(1.7)		(1.8)		(1.9)		(2.2)

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
5.	व्यावसायिक और स्वतः काम पर लगने वाले लोग	7769	1.91 (0.1)	180492	29.78 (0.4)	207441	36.73 (0.5)	310344	53.06 (0.5)	503656	71.61 (0.6)	582749	86.34 (0.7)
6.	शिक्षा	1477	0.80 (...)	11735	3.49 (0.1)	12358	3.88 (0.1)	19006	4.69 (0.1)	24264	5.81 (0.5)	29854	6.46 (0.05)
	जोड़ (1 से 6)	260142	440.97 (14.9)	2660661	1688.33 (25.2)	3302245	1998.90 (26.1)	4722450	2528.47 (25.5)	6564243	3146.43 (27.0)	7651727	3992.44 (30.2)
	इन बैंकों द्वारा कुल अग्रिम राशियां		3016.76		6692.00		7654.00		9928.00		11643.00*		13215.00

स्रोत : 'इकनॉमिक रिव्यू', गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, 1978-79

* अस्थायी

† विकास वित्त के अलावा बागानों के लिए अग्रिम राशि छोड़कर

† यूनिटों की संख्या

टिप्पणियां :

1. कोष्ठकों में दिए गए आंकड़े इन बैंकों की कुल अग्रिम राशियों की प्रतिशतता बताते हैं ।
2. सुगमांक करने के लिए जोड़ में आंकड़े सम्मिलित नहीं किए गए हैं।
3. छः महीनों बाद अर्थात् दिसम्बर, 1978, में कृषि की बकाया राशि की प्रतिशतता 12.5 से बढ़कर 13.5 हो गयी है ।

तालिका 60

कृषि क्षेत्रक के छोटे और सीमांत किसानों को बैंक-ऋण का भाग

(राशि करोड़ों रुपयों में)

	2.5 एकड़ तक		2.5 से 5 एकड़		5 से 10 एकड़		10 एकड़ से अधिक		कुल	
	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि	खातों की संख्या	बकाया राशि
सितम्बर	522618	47.93	347835	56.81	273021	77.43	293539	200.55	1437013	382.72
1974	(36)	(13)	(24)	(15)	(19)	(20)	(21)	(52)		
सितम्बर	720917	77.50	490263	82.07	336822	97.96	341235	242.73	1889237	500.26
1975	(38)	(15)	(26)	(16)	(18)	(20)	(18)	(49)		
सितम्बर	1121706	128.03	715952	120.94	473006	138.46	424130	308.08	2734704	695.51
1976	(41)	(18)	(26)	(17)	(17)	(20)	(16)	(44)		
सितम्बर	1404652	173.83	826698	149.09	588876	170.30	506830	393.89	3327056	887.11
1977	(42)	(20)	(25)	(17)	(18)	(19)	(15)	(44)		
सितम्बर	16.72	229.40	9.96	188.37	6.82	203.45	6.46	503.07	39.96	1124.29
1978	(43)	(21)	(25)	(16)	(16)	(16)	(16)	(45)		

स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया विवरणी के संकलित खाते।

टिप्पणियां :

1. 'बकाया राशि' के आंकड़े करोड़ों रुपयों में दिखाए गए हैं।
2. कोष्ठकों में दिए गए आंकड़े क्रमानुसार खातों की संख्या या बकाया राशि की प्रतिशतता दर्शाते हैं।

गई। नीचे दिए गए विवरण में दिसम्बर, 1979 तक प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की प्रगति दिखाई गई है :

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की संख्या	60
	(लाखों रुपयों में)
जमा पूंजी :	12321.63
कुल ऋण और अग्रिम राशियां :	16740.85
(i) छोटे और सीमांत किसान	10461.08
(ii) ग्रामीण कारीगर और अन्य	4986.08
(iii) उपभोग ऋण	90.53
(iv) अप्रत्यक्ष ऋण	816.07
(v) अन्य प्रयोजनों के लिए ऋण	386.40

कारीगरों/ग्रामीण उद्योगों के संबंध में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों ने केवल उन्हीं व्यक्तियों को ऋण देने की व्यवस्था की है जिनकी वार्षिक आय 4,000 रुपये से अधिक नहीं है।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना की आवश्यकता इसलिए हुई है कि कृषि और सम्बन्धित कार्यकलापों को वित्तपोषित करने के लिए ऋण के ढांचे में बहुत अंश तक पूरा न किया जाने वाले ऋण का अभाव था, जबकि सरकारी समितियों और बड़े-बड़े वाणिज्यिक बैंकों की ग्रामीण अर्धशहरी शाखाओं ने योगदान किया अथवा अच्छी भूमिका निभाई थी।

फिर भी हाल ही में एक ओर वाणिज्यिक बैंकों के चीफ एक्जीक्यूटिवों ने यह सिफारिश की है कि छठी योजना के अन्त तक छोटे और सीमांत किसानों के भाग में 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाय; दूसरी ओर, यह भी निर्णय किया गया है कि प्रादेशिक ग्रामीण बैंक बड़े-बड़े किसानों को भी ऋण देने की व्यवस्था करें जो इस विशिष्ट क्षेत्र की परियोजना के लाभ उठाने वालों में से हैं जो कृषि पुनर्वित्त पोषण और विकास निगम द्वारा पुनः वित्तपोषित किया जा रहा है।

तालिका 61 के अनुसार, जब कृषि के लिए अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की अग्रिम रूप से दिए गए ऋण की राशि मार्च, 1968 के अन्त तक वर्ष में कुल ऋण का 0.3 प्रतिशत से बढ़कर फरवरी, 1979 को समाप्त होने वाले वर्ष में 11.9 प्रतिशत हो गई और उद्योग के लिए दी गई अग्रिम राशि इसी अवधि में 67.5 प्रतिशत से घटकर 51.1 प्रतिशत रह गई, तब बाद के वर्ष में उद्योग के लिए अग्रिम रूप से दी गई वास्तविक राशि कृषि के लिए अग्रिम रूप से दी गई राशि की तुलना में 7,028 करोड़ रुपये[2] अधिक हो गई जबकि इससे पूर्व के वर्ष में 2,059 करोड़ रुपये की अधिक राशि थी।

2. उद्योग (बड़े, मध्यम और छोटे) के लिए अग्रिम रूप से दी गई राशि (7038+2129=) 9167 करोड़ रुपए रही जबकि कृषि के लिए अग्रिम रूप से दी गई राशि 2139 करोड़ रुपए थी। इस प्रकार इन दोनों आंकड़ों में 7028 करोड़ रुपए का अन्तर है।

तालिका 61

9 वर्षों की अवधि में मार्च, 1968 से फरवरी, 1979 तक
उद्योग और कृषि दिए गए अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों के ऋण

(राशि करोड़ों रुपयों में)

मास को समाप्त होने वाला वर्ष	उद्योग: बड़े तथा मध्यम उद्योग		उद्योग: लघु उद्योग		कृषि (पौधारोपण को छोड़कर)	
	राशि	कुल ऋण की प्रतिशतता	राशि	कुल ऋण की प्रतिशतता	राशि	कुल ऋण की प्रतिशतता
मार्च, 1968	1857	60.6	211	6.9	9	0.3
जून, 1972	2414	45.5	639	12.1	245	4.6
जून, 1973	2731	43.1	759	12.0	463	7.3
जून, 1974	3550	44.4	1005	12.5	576	7.2
जून, 1975	3977	44.1	1118	12.4	833	9.3
जून, 1976	4462	38.2	1251	10.7	1063	9.1
जून, 1977	4779	35.5	1462	10.9	1250	9.3
जून, 1978	6209	39.5	1740	11.1	1694	10.6
फरवरी, 1979	7038	39.2	2129	11.9	2139	11.9

स्रोत : चालू बैंक आंकड़े, सितम्बर, 1979.

निष्कर्षतः किसानों के बैंकों के बढ़ते हुए ऋण की वांछनीयता पर विचार किया जाए तो यह नहीं भूलना चाहिए कि 25 जून, 1980 को बजट के सम्बन्ध में जो बहस हुई उसमें सभी लोकसभा के सदस्य अपने इस विचार में एकमत थे कि बैंकों में ऋणों के वितरण के मामले में भारी भ्रष्टाचार है। डॉ० कर्णसिंह (कांग्रेस) ने यह कहा कि उन्हें यह बताया गया है कि ऋण के रूप में दी गई राशि का एक तिहाई भाग रिश्वत में ही चला जाता है। लेकिन उस शासक दल की दृष्टि में किसी प्रकार का बड़े से बड़ा भ्रष्टाचार अपराध नहीं है, जो कि 1977 से 1979 के 33 महीनों की अवधि को छोड़कर 2 सितम्बर, 1946 से, जबकि जवाहरलाल नेहरू ने केन्द्र शासन की बागडोर संभाली थी, अभी तक देश का भाग्य-निर्माता और नियंत्रक रहा है।

जहां तक कि किसानों को दिए जाने वाले ऋणों का संबंध है, किसानों द्वारा स्वयं सहकारी समितियां स्थापित करना ही इसका सर्वोत्तम उपाय है। वास्तव में वे किसान की प्रत्येक आवश्यकता को लगभग पूरा कर देती हैं और ग्रामीण जीवन के प्रत्येक पहलू को सुधार देती हैं जिनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण विपणन की आवश्यकता है। विशेष रूप से, विपणन-सुविधाओं में सुधार के द्वारा ही सहकारी समिति अपने सदस्यों

को 'विस्तृत रूप में बड़े पैमाने के उपक्रम के तकनीकी लाभ' प्रदान करती है, जिसे एडम स्मिथ ने कृषि-सुधारों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है। फिर भी विपणन समितियों के बजाय सहकारी ऋण समितियां ही हैं जो देश में सहकारी आन्दोलन का आधार हैं। लेकिन इस समय सम्बन्धित अधिकारियों की अनिच्छुक मौन सम्मति के साथ, यदि उनकी स्वैच्छिक सम्मति नहीं हो, यह आन्दोलन निहित स्वार्थों की नौकरानी से अधिक नहीं लगता। इससे अधिक बुरी स्थिति यह है कि ऋण सहकारी समितियां ग्रामीण क्षेत्रों में सूदखोर ऋणदाताओं को अलग करने में ही असफल नहीं हुई हैं बल्कि हाल ही के वर्षों में उन्होंने कतिपय क्षेत्रों में अपना विश्वास भी खो दिया है। सहकारी संस्थाओं में सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार होने के कारण काफी पतन हुआ है, यहां तक कि उन राज्यों में भी अब खुली लोकनिंदा है जहां पहले इन संस्थाओं की सदस्यता में वृद्धि तथा पूंजी के बार-बार लगाने की दृष्टि में काफी प्रगति हुई थी। राष्ट्रीय सहकारिता विकास निगम के लेखों पर चर्चा करते समय चौथी लोकसभा (1969-70) की लोक लेखा सीमित ने अपनी रिपोर्ट में कहा है :

> "समिति इस बात से विक्षुब्ध है कि देश में निहित सहकारी स्वार्थों ने समितियों के कार्य को निष्ठाहीन बना दिया है। इन स्वार्थों से अभिभूत होकर कार्यकर्त्ताओं ने कार्यालय अथवा बाहर अपने लिए अपने मित्रों और अपने संबंधियों की सेवा में ही समितियों का अधिकांश भाग बराबर लगाए रखने का प्रबन्ध कर लिया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक उपाय निकाले हैं, यथा — नए सदस्यों के प्रवेश पर रोक, आम सभा की बैठकों को न होने देना, चुनाव में चालबाजी करना, सहकारी समितियों में वेतनभोगी सेवाओं के लिए अपने सम्बन्धियों को रोजगार दिलाना, सस्ती ब्याज की दरों पर ऋणों का दिलाना आदि। जुलाई, 1966 में बंगलौर में आयोजित सहकारी मंत्रियों के सम्मेलन में बताया गया कि 'प्रायः 15 से 20 प्रतिशत सदस्य ही इस स्थिति में हैं कि वे सहकारी समितियों से अधिक लाभ उठाते हैं।' आत्मप्रशंसा और व्यक्तिगत संवृद्धि का कार्यक्षेत्र वस्तुतः यह सोचकर अधिक लगता है कि राष्ट्रीय सहकारिता विकास निगम ने अकेले ही 1967-68 के अंत तक सहकारी समितियों को कुल मिलाकर 90 करोड़ रुपये की सहायता दी है। इसके अलावा सरकार ने स्वयं उन सभी योजनाओं को भारी पैमाने पर सहायता दी है जिनका सम्बन्ध उपभोक्ता सहकारी समितियों, श्रमिक सहकारी समितियों और बचत तथा उधार समितियों आदि से है।"

इस कहानी का सबसे विडंबनापूर्ण और दुःखद भाग यह है कि प्रायः सहकारी कर्मचारियों ने इस कार्य में काफी लूटमार की है। 1970-75 की अवधि में उत्तर प्रदेश में स्वयं उन्होंने अथवा उनकी साठगांठ से 7 करोड़ रुपयों की प्रचुर धनराशि का विधिवत् गठन किया गया। लेकिन यद्यपि 1979 तक 2,800 अपराधियों को कैद किया गया और उन पर मुकदमे चलाए गए; लेकिन केवल 29 को ही जेल भेजा

गया। अन्य व्यक्ति जमानत पर मौज उड़ाते रहे और उनके विरुद्ध कानूनी कार्यवाहियों की मंदगति का कोई भी संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं मिल पाया।

केन्द्रीय सरकार ने एक कार्यकारी दल की स्थापना की जिसने यह निष्कर्ष निकाला है कि 1951 से सहकारी ऋण क्षेत्रक ने उल्लेखनीय प्रगति की है, उन्होंने खेती के लिए ऋण की आवश्यकताओं में योगदान की वृद्धि 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 1974 में 31 प्रतिशत कर दी है, फिर भी अभी बहुत कुछ काम करना है। वास्तविक राशि के परिप्रेक्ष्य में सहकारी ऋण 1961-62 में 240 करोड़ रुपये से बढ़कर केवल 1970-71 में 570 करोड़ रुपये हो गया है।

कई ऋणदाता जो पारंपरिक ढंग से किसानों की ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करते थे उन्होंने अपना धंधा छोड़ दिया है जिसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश राज्यों में ऐसा कानून अधिनियमित हो गया है जो किसान को सूदखोरी से बचा सके। लेकिन इसके परिणामस्वरूप कृषि के लिए ऋणों के बाजार में ऋणों के देने में कमी आ गई है। इस कानून से ऋणदाताओं के कष्ट और जोखिम बढ़े हैं तथा कृषि-ऋण के व्यापार के लाभ में कमी हुई है। दूसरी ओर ऋणदाताओं के कानून के अधिनियमित होने के साथ ही साथ वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योग को प्राथमिक रूप से सहायता मिली है जैसा कि केन्द्रीकृत योजना की नीति रही है। निजी बैंक और अपेक्षाकृत अधिक आदरणीय ऋणदाताओं ने खेती के लिए ऋण सम्बन्धी कार्यों को कम कर दिया अथवा वे अपनी पूंजी के साथ शहरों में चले गए ताकि वे औद्योगिक कार्य का तेजी से प्रसार कराने के लिए उसे वित्तपोषित करें। इनमें से कतिपय लोग अन्य व्यापारों में लग गए जिनमें औद्योगिकीकरण में सहभागिता शामिल है जो नई नीतियों के फलस्वरूप खेती के लिए ऋण देने की अपेक्षा अधिक लाभ प्रदान करते हैं।

26 फरवरी, 1976 को 'इंडियन एक्सप्रेस', दिल्ली में प्रकाशित श्रीनगर के श्री डी० एन० व्यास के पत्र की ओर पोषकों का ध्यान आकर्षित करना असंगत न होगा :

ऋणदाता

"महोदय, सामाजिक वैज्ञानिकों ने एक सर्वेक्षण किया है जिससे यह विदित होता है कि जहां तक ग्रामीणों को ऋण देने का मामला है वहां ग्रामीण किसी ऋणदाता अथवा मित्र अथवा रिश्तेदार के पास ही जाते हैं और वे सरकार, वाणिज्यिक या सहकारी बैंकों से उधार नहीं ले पाते।

सरकार इस बात के लिए इच्छुक है कि ग्रामीण जनता को निजी ऋण-दाता के चंगुल से मुक्त कर दिया जाए। इस प्रकार के कई उपाय किए गए हैं कि दुःखी ऋणी व्यक्तियों को सहायता दी जाए और उनके लिए ग्रामीण बैंक खोले जा रहे हैं लेकिन समस्या की गंभीरता ज्यों की त्यों है। इस प्रसंग में, सरकारी नीतियों के इस भाग के कार्यान्वयन के लिए जो भी उत्तरदायी हैं उन्हें इस अध्ययन से संकेत लेना चाहिए। जब तक वे निजी ऋणदाता के समान गरीब ग्रामीण जनता के द्वार-द्वार नहीं जाते तब तक इस समस्या का निराकरण

नहीं हो सकता, चाहे कितनी ही सस्ती ब्याज की दरों पर ऋण देकर इस समस्या को सुलझाया जाए।"

क्या कोई ऐसा भी रास्ता निकाला जा सकता है कि निजी ऋणदाताओं की सेवाओं का भी उपयोग किया जा सके और उन अनैतिक व्यवहारों को बचाया जा सके जिनसे वह दोषी हुआ है और यदि ऐसा हो सका तो कृषि-समुदाय की अधिक सेवा की जा सकेगी। जैसी आज स्थिति है, सूदखोर ऋणदाता अभी भी कृषि क्षेत्रक की ऋण की आधी से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

यद्यपि सहकारी समितियां, वाणिज्यिक बैंक, राज्य सरकारें, रिजर्व बैंक आफ इंडिया से संबद्ध हैं फिर भी वे कृषीतर ऋणों की अपेक्षा कृषि ऋण पर अपेक्षाकृत अधिक दर से ब्याज लेते हैं और कम से कम अब तक इतनी ही दर से ब्याज लिया है। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट 'भारत में बैंकिंग की प्रवृत्ति और प्रगति' (ट्रैंड एंड प्रोग्रेस आफ बैंकिंग इन इंडिया, (1978-79) के अनुसार कृषि के लिए ब्याज की दरें अभी हाल ही में कुछ कम हो गई हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने अब कृषि-ऋणों के संबंध में जो दरें निर्धारित की हैं वे इस प्रकार हैं:

(1) किसानों को छोटे-छोटे ऋण (प्रत्येक को 2500 से अधिक नहीं)	11.0 प्रतिशत
(2) लघु सिंचाई और भूमि-विकास के लिए तीन वर्षीय या अधिक अवधि के ऋण।	9.5* प्रतिशत
(3) अलग-अलग उद्देश्यों के लिए यथा कृषि से सम्बन्धित कार्यों अर्थात्, कुक्कुट-पालन, डेरी आदि के लिए तीन वर्षीय या अधिक अवधि के ऋण:	
(क) छोटे किसान	9.5* प्रतिशत
(ख) अन्य	10.5* प्रतिशत
(4) अन्य ऋण—अधिकतम 15 प्रतिशत के भीतर। न्यूनतम ऋण पर ब्याज की दर 12.5 प्रतिशत उन कृषि-ऋणों पर लागू नहीं है जो किसी बैंक से 50,000 रुपये से कम के कृषि ऋण लिए जाते हैं। मोटे तौर पर अन्य कृषि अग्रिम राशियों का अधिकांश भाग 12 प्रतिशत से 14 प्रतिशत ब्याज की दर पर दिया जाता है।	

* 15 मार्च, 1978 से पहले लघु सिंचाई और भूमि विकास के लिए 10.5 प्रतिशत की दरें थीं और विभिन्न उद्देश्यों के लिए 11.0 प्रतिशत (किसानों की जोतों के आकार अलग-अलग होने के बावजूद) की दरें थीं।

इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि भारत में पूंजी तुलनात्मक रूप से बहुत ही कम है और इसीलिए अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान है। अतः यह ठीक है कि इस पूंजी का मूल्य ब्याज की दरों से ही प्रदर्शित होता है जो ऋण की राशियों पर लगाई जाती हैं। ऋणों को दो कसौटियों के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है— पहला ऋण का उद्देश्य अर्थात् क्या ऋण की राशि ऐसी परियोजनाओं पर व्यय की जाएगी जिनकी अन्य योजनाओं की तुलना में प्राथमिकता दी गई है या दी जानी है अथवा प्राथमिकता न दी जाने वाली परियोजनाओं पर व्यय की जाती है; दूसरे जो उम्मीदवार ऋण मांगता है वह छोटा आदमी है या बड़ा आदमी ? स्पष्ट रूप से भारत में कृषि को सर्वप्रथम प्राथमिकता दी जानी चाहिए और उसके बाद दूसरे नंबर पर उद्योग को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसलिए किसान के ऋणों पर लिए गए ब्याज की दरें उद्योगपति के ऋण की ब्याज की दरों से अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए और यदि किसानों और उद्योगपतियों को परस्पर देखा जाए तो एक छोटे किसान या उद्योगपति से ऋण के ब्याज की दरें उन दरों से अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए जो बड़े आदमियों से ऋणों के ब्याज की दरें मानी जाती हैं। लेकिन सरकार की नीति उद्योग के पक्ष में और कृषि के विरोध में होने के कारण अभी तक विपरीत नीति का ही अनुसरण किया गया है। ऐसी परिस्थितियां पैदा की गई हैं जिनके अधीन उद्योगपति को किसान की अपेक्षा अधिक वरीयता दी जाती है और ऋण लेने वालों की क्षमता या आर्थिक प्रतिष्ठा के अनुसार दरों में कोई अंतर नहीं किया जाता। आर्थिक रूप से निर्धन व्यक्तियों की तुलना में उन आदमियों को जो मशीनों का आयात करना चाहते हैं अर्थात् सघन पूंजी के उपायों का उपयोग करना चाहते हैं, कई प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता है। बड़ी मशीन के लिए किसी उम्मीदवार को (चाहे कोई उद्योगपति हो या किसान हो) ऋण की आवश्यकता हो तो उसे सरकार का भी अपेक्षाकृत अधिक उदार दान मिल जाता है।

ऐसा लगता है कि इस बात की अवहेलना कर दी गई है कि जबकि हमारे पास पूंजी की कमी है, भाग्यवश आवश्यकता को देखते हुए गैर-पंजीकृत खेती हमारे देश में लोकप्रिय है। इस प्रकार की कृषि के लिए सामान्य रूप से वस्तुएं तैयार करने के लिए लगाई गई पूंजी के अनुपात में बहुत कम पूंजी लगाई गई है और वास्तव में भारी उद्योगों पर जितनी पूंजी लगाई गई है उससे बहुत ही कम गैर-पंजीकृत कृषि पर पूंजी लगाई गई है।

डॉ० बी० एस० मिन्हास (योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य) के अनुसार विभिन्न योजनाओं की अवधि में अलग-अलग क्षेत्रकों के लिए बढ़ते हुए अनुपात का हिसाब तालिका 62 में दर्शाया गया है।

तालिका 62

1967-68 की कीमतों के आधार पर चारों योजनाओं की अवधि में एक वर्ष की अवधि के अंतर से क्षेत्रीय पूंजी-उत्पादन का अनुपात

	I योजना	II योजना	III योजना	IV योजना (पूर्वानुमान)
1. कृषि और इससे संबंधित क्षेत्रक	1.06	2.58	2.30	1.72
2. खनन और विनिर्माण और निर्माण	1.50	3.83	3.00	4.27
3. परिवहन और संचार	5.76	5.25	5.90	6.73

स्रोत : बी० एस० मिन्हास : 'प्लैनिंग एंड द पुअर', एस० चांद एण्ड कम्पनी, लिमिटेड, नई दिल्ली 1974, पृष्ठ 36.

प्रोफेसर पी० सी० महालेनोविस (योजना आयोग के सांख्यिकी परामर्शदाता), ने एक लेख लिखा है जिसमें आंकड़ों का एक बहुत ही विशिष्ट अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन किसी न किसी रूप में हमारे भारी उद्योग कार्यक्रम का आधार समझा जा सकता है। यह लेख 'द अप्रोच ऑफ आपरेशनल रिसर्चस् टू प्लानिंग इंडिया सांख्यिकी-संस्था की भारतीय पत्रिका 'सांख्य' के दिसंबर, 1955 के 16वें अंक में प्रकाशित हुआ था। नई परियोजनाओं के आधार पर जो आंकड़े निकाले गए हैं वे दूसरी पंचवर्षीय योजना में शामिल करने के लिए तैयार किए गए थे। इन आंकड़ों के अनुसार और राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के तीसरी और चौथी बार के आंकड़ों के अनुसार प्रोफेसर महालेनोविस जिन निष्कर्षों पर पहुंचे वे इस प्रकार हैं :

तालिका 63

क्षेत्रक	निवेश (करोड़ों रुपयों में)	वृद्धि: आय (करोड़ों रुपयों में)	वृद्धि: रोजगार (दस लाख में)	निवेश का गुणांक	रोजगार में लगे प्रति कामगार की पूंजी का मूल्य
1. निवेश वस्तुओं का उत्पादन करने वाले बड़े पैमाने के उद्योग	1850	370	0.9	0.2	20500 रुपए
2. उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले बड़े पैमाने के उद्योग	980	340	1.1	0.35	8750 रुपए
3. कृषि और छोटे पैमाने के तथा घरेलू उद्योग	1180	1470	4.7	1.25	2500 रुपए
4. सेवाएं (स्वास्थ्य शिक्षा और परिवहन अदि)	1600	720	4.3	0.45	3750 रुपए
	5610	2900	11.0	2.25	35500 रुपए

कृषि और छोटे तथा घरेलू उद्योगों के सम्मिलित क्षेत्रक को दो उपक्षेत्रकों में विभाजित किया गया है : (क) कृषि, (ख) छोटे और घरेलू उद्यम। इन दोनों उपक्षेत्रकों में आय में वृद्धि और निवेश तथा रोजगार की स्थिति इस प्रकार दिखाई गई है :

तालिका 64

क्षेत्रक	निवेश (करोड़ों रुपयों में)	वृद्धि: आय (करोड़ों रुपयों में)	वृद्धि: रोजगार (दस लाख में)
(क) कृषि	986	1083	1.58
(ख) छोटे पैमाने के और	194	387	3.12
घरेलू उद्योग	1180	1470	4.70

इस प्रकार निवेश की निर्धारित धनराशि बड़े पैमाने के उद्योगों और सेवाओं की तुलना में कृषि के लिए न केवल अपेक्षाकृत अधिक धन पैदा करती है बल्कि अपेक्षाकृत अधिक रोजगार भी देती है।

इसके अलावा अभी अपेक्षाकृत अधिक उल्लेखनीय यह है कि तुलनात्मक रूप से कृषि में हुई और अधिक उत्पादन वृद्धि की तुलना में पूंजी-निवेश का अनुपात ही कम नहीं है बल्कि सामान्य रूप से उत्पादन में वृद्धि अन्य कई उद्योग, विशेषकर भारी उद्योग में अधिक शीघ्रता से होती है।

इसका परिणाम यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था पहले की अपेक्षा कई गुनी तेजी से बढ़ सकती है, यदि हम अपनी निवेश-नीति की प्राथमिकताओं के क्रम को बदल लें अर्थात् कृषि की अवहेलना करके पूर्णतया अलाभकारी उद्योग को जो वरीयता देते हैं उसके स्थान पर कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए। कई संसाधन जिनका आवंटन किया गया है अथवा जिनका आवंटन किया जा रहा है और यह आवंटन उद्योग की अपेक्षा अन्य उद्देश्यों के लिए राज्य सरकारों ने शहरों में रहने वालों के लिए किया है, इससे भी ग्रामीण क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक लाभ हुआ है।

फिर भी, जैसा कि माइकेल लिपटन ने, जो अभी तक काम में आने वाली सरकारी नीतियों के समर्थक रहे हैं, कहा है कि "सर्वप्रथम कृषि में पूंजी-उत्पादन निश्चय ही कम है अर्थात् कृषि की अपेक्षा उद्योग में निवेश की तुलना में प्राप्ति अपेक्षाकृत कम है, इसलिए तुलनात्मक रूप से अपेक्षाकृत अधिक राशि उद्योग को आवंटित करनी होती है।"[3]

इसके उत्तर में इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि अन्य

3. देखिए 'द क्राइसिस ऑफ इंडियन प्लैनिंग', ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लंदन 1968 में पृष्ठ 88-89 पर माइकेल लिपटन का लेख।

इसी प्रकार की कृषि की अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक पूंजी लगाती है। उदाहरण के लिए जापान के किसान को किसी भी पशु की आवश्यकता नहीं होती और वह कोई पशु नहीं रखता, उसने अपने दोनों हाथों का ही उपयोग किया है। लेकिन भारत में पशुओं की सहायता 'अनिवार्य' है क्योंकि यहां खेती का मौसम मानसून के दिनों में बहुत ही कम होता है। देश के अधिकांश क्षेत्रों में नहर-सिंचाई आवश्यक होती है। इन दोनों ही कारकों अर्थात् पशुओं और नहरों ने भारतीय कृषि को तुलनात्मक रूप से अपेक्षाकृत अधिक पूंजी लगाने की स्थिति में ला दिया है।

दूसरे, उद्योग का पूंजी-उत्पादन का अनुपात बहुत ऊंचा होता है क्योंकि कारखानों के बनने में तथा कठिन कष्टों को दूर करने में काफी अधिक समय लगता है जबकि कृषि परियोजनाओं में इतना समय नहीं लगता क्योंकि उद्योगों के लिए उत्पादन अवधि अपेक्षाकृत अधिक होती है। यदि 1966-71 के निवेशों के परिणामों को देखा जाए या यूं कहिए कि 1975 में इसी तर्क को आगे बढ़ाया जाए तो औद्योगिक परियोजनाओं से लंबी अवधि में अपेक्षाकृत कहीं अधिक उत्पादन होगा जबकि कृषि से अल्पावधि में आनुपातिक उत्पादन कम होगा।

लेकिन सांख्यिकी विवरण से इस विषय में कोई अधिक साक्ष्य नहीं मिल पाता क्योंकि निवेश करने के कई वर्षों के बाद हम उत्पादन का हिसाब लगाते हैं। इससे यह विदित होता है कि कृषि में जो पूंजी-उत्पादन होता है उसकी तुलना में कम से कम $1\frac{1}{2}$ गुना पूंजी-उत्पादन का अनुपात उद्योग में पाया जाता है। इसलिए कृषि और उद्योग के निवेश के तुलनात्मक कार्य-निष्पादन के लिए उत्पत्ति-अवधि की व्याख्या अतर्कसंगत है। कुछ भी हो, शीघ्र उत्पादनशील परियोजनाओं की आवश्यकता के प्रसंग में यह अपने आप में ही परास्त होने वाला तर्क है कि निवेश में उच्च औद्योगिक भाग होना चाहिए।

तीसरे, तीव्र गति से संवृद्धि के लिए भारत को बचाई गई आय के अनुपात को बढ़ाना चाहिए। यह कम पूंजी-उत्पादन के अनुपात के रूप में महत्त्वपूर्ण है। कृषि परियोजनाओं की लागत से अधिकांश भाग में मजदूरी के भुगतान शामिल किए जाते हैं और मजदूरी में से बचतें बहुत ही कम होती हैं लेकिन औद्योगिक आय में से बचतें अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती हैं। इस प्रकार कृषि-परियोजनाओं पर ज़ोर देने का अर्थ यह है कि कम बचतें होती हैं और इसीलिए संवृद्धि भी धीमी गति से होती है। इस तर्क को आगे बढ़ाया जाए तो यह कहना उपयुक्त है कि यदि भारत को आत्म-निर्भर होना है तो उसे बचाई गई आय के अनुपात को भी बढ़ाना चाहिए ताकि वह दिन आ जाए जब उसकी बचतों को विदेशी सहायता की आवश्यकता न रहे।

लेकिन इस सबका अर्थ घोड़े के आगे गाड़ी रखना है। इस सच्चाई को भारत के आयोजकों, अर्थशास्त्रियों और राजनीतिक नेताओं को भली भांति समझ लेना चाहिए कि जब तक देश काफी सोना या तेल निकालने में भाग्यशाली न हो तब तक विकसित जन-व्यापी कृषि ही औद्योगिकीकरण की अथवा अन्य क्षेत्रकों में व्यापक रूप से सफल विकास की पूर्व शर्त है। यदि दूसरी स्थिति को जबरदस्ती कार्यान्वित करने का

प्रयत्न किया जाएगा तो ऐसा लगता है कि आदमी अपने हाथ से ही ईंट की दीवार तोड़ रहा है ।

यह बुनियादी सत्य है जिसका उल्लेख उपर्युक्त अनुच्छेद में किया गया है और जिस पर सभी आर्थिक अथवा धर्मनिरपेक्ष विचारों से पूर्व ध्यान देना चाहिए । लेकिन इस अभियोग की सच्चाई पर भी विचार करना चाहिए कि विशेषतया छोटे किसान बहुत कम उत्पादन करते हैं अथवा कुछ भी नहीं बचाते । इस आरोप में कोई सत्य नहीं है । प्रसिद्ध लेखक माइकेल लिपटन के समान विश्व में शायद कोई भी ऐसा विद्वान दिखाई नहीं देता जिसने तीसरी दुनिया के देशों की ग्रामीण समस्याओं का गहन और वास्तविक अध्ययन किया है और उनके मतानुसार यह आरोप बेनुनियाद है । उनका कहना है कि अप्रत्यक्ष अनुमानों से यह पता लगता है कि भारत 1967-68 में अपनी कृषि आय का निजी तौर पर 5 से 10 प्रतिशत तक बचत कर लेता था । इन अप्रत्यक्ष आंकड़ों की भिन्नता उन प्रत्यक्ष अनुमानों से है जो केवल 2 या 3 प्रतिशत राष्ट्रीय आय पर आधारित हैं; लेकिन प्रत्यक्ष रूप से गहन अध्ययनों से अपेक्षाकृत अधिक बचतों का भी पता चला है । इस शताब्दी के छठे दशक में भारतीय साक्ष्य के सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि ग्रामीश बचतों की दरें लगभग 12 प्रतिशत थीं । भारत के 9 कृषि-आर्थिक शोध केन्द्रों में 'हरित क्रांति' से उत्पन्न कृषि की अतिरिक्त आय के उपयोग की प्रगति से यह पता लगता है कि बचतों की अपेक्षाकृत अधिक दरें रही हैं । कोलिन क्लार्क एक अन्य प्रकार का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जिससे यह पता लगता है कि छोटे खेतों की बचतें, अनेक निर्धन देशों के लिए बहुत बड़े फार्मों की अपेक्षा प्रति एकड़ अधिक पूंजी की व्यवस्था करने के लिए पर्याप्त हैं ।

इस साक्ष्य से इस दावे का निराकरण हो जाता है कि कृषि निवेश ऐसी आय पैदा करेगा जिसमें से कुछ भी नहीं बचाया जा सकता । सत्य यह है कि पहले कुछ ग्रामीण बचतें कीमतों की हेराफेरी से सामाजिक रूप से कम उत्पादन वाले शहरी निवेश को वित्तपोषित करने के लिए छीन ली जाती हैं लेकिन यह शहरी पक्षपात का एक भाग है और इसे इस तथ्य का सुरक्षात्मक ढंग नहीं मानना चाहिए; दूसरे, किसानों के लिए बचतों के अपेक्षाकृत अधिक प्रोत्साहन मिलेंगे और वे अपनी बचतों को खेत के निवेश पर लगा लेंगे यदि नीतियों द्वारा कृत्रिम रूप से उसके उत्पादन कम न किए जाएं और व्यापार की शर्तों को कृषि के विरुद्ध लागू न किया जाए । इस सबके होते हुए भी एक निर्धारित आय में से देहाती जनता शहरी जनता की अपेक्षा अधिक बचा लेती है । देहाती जनता और अधिक क्यों नहीं बचा पाती, इसका मुख्य कारण यह है कि शहरी पक्षपात उन्हें अधिक निर्धन बनाए हुए है । उदाहरणार्थ, 1961-62 में भारतीय देहाती परिवारों को वार्षिक आय 4,800-7,200 रही जिस आय में से उन्होंने 19 प्रतिशत की बचत की; शहरी परिवारों की आय 6,000-10,000 रुपए तक रही और ये परिवार अधिक धनी भी थे फिर भी केवल 11.4 प्रतिशत बचा सके । ग्रामीण बचतों की कमी का कारण यह भी था कि देहाती परिवारों के 7 प्रतिशत से कुछ ही अधिक परिवारों की वार्षिक आय 3,000 रु० से कुछ ही अधिक थी । आय का यह एक

ऐसा स्तर है जो शहरी परिवारों में से बिल्कुल भी बचत न करने वाले परिवारों की आय से कम है जबकि इसकी तुलना में शहरी परिवारों की बचत 14 प्रतिशत हुई। गरीब न कहे जाने वाले ग्रामीण लोगों की बचत के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय रहे, जैसा कि इस बात से प्रकट होता है कि (1) देहाती लोग शहरी लोगों की अपेक्षा अधिक निर्धन थे फिर भी उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक परिवारों की सहायता की है, (2) और ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों ने रहन-सहन की अपेक्षाकृत अधिक लागतों का सामना किया है।

जहां तक विदेशी सहायता का संबंध है, जैसा कि आगे दिए गए विवरण से विदित होगा, इससे हमारी योजनाओं को उतना सशक्त योगदान नहीं मिला है जैसा कि सामान्य रूप से माना जाता है।

तालिका 65

सार्वजनिक क्षेत्रक योजना—पूंजी-लागत और घरेलू बचतें

(करोड़ों रुपयों में)

योजना	सार्वजनिक क्षेत्रक योजना	बाह्य सहायता का उपभोग	विदेशी विनिमय सुरिक्षत निधियों से निकासी	घरेलू बचतें (2−(3+3)	स्तंभ 5, स्तंभ 2 के प्रतिशत के रूप में स्तंभ 5
1	2	3	4	5	6
पहली योजना (1) (1951-56)	1960	188	—	1772	90
दूसरी योजना (1) (1956-61)	4600	1090	—	3510	76
तीसरी योजना (2) (1961-66)	8577	2423	—	6154	72
चौथी योजना (2) (1969-74)	15902	2614	—	13288	84
पांचवीं योजना (3) (1974-79)	39303	5834	600	32869	84

स्रोत :

1. थर्ड फाइव इयर प्लान (तीसरी पंचवर्षीय योजना), अध्याय 3 (पृष्ठ 33), योजना आयोग।
2. फोर्थ फाइव इयर प्लान (चौथी पंचवर्षीय योजना), अध्याय 4 (पृष्ठ 73 और 74), योजना आयोग।
3. फिफ्थ फाइव इयर प्लान (पंचवर्षीय योजना), अध्याय 4 (पृष्ठ 32), योजना आयोग।

चौथे, जब तक कृषि-निवेश और कारखाना-निवेश एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात् प्रत्येक का उत्पादन एक दूसरे के उत्पादन पर निर्भर करता है, तब तक उद्योग

में अधिक पूंजी-उत्पादन का अनुपात संगत ठहराया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम उर्वरक कारखानों के निर्माण (अधिक अनुपात) से हटाकर कुशल इंजीनियरों को बांध-निर्माण (कम अनुपात) पर लगाएं तो हम आवश्यक निवेश से कृषि को वंचित कर देंगे।

लेकिन यह बात भुला दी जाती है कि जबकि कृषि को उर्वरकों से लाभ पहुंचता है, सूती मिलों को भी कच्ची कपास से लाभ पहुंचता है, फिर भी कपास उगाने वाली भूमि की अधिक सिंचाई औद्योगिक निवेश नहीं मानी जाती। यही कारण है कि इस शताब्दी के छठे दशक से योजना आयोग ने स्वयं कृषि से उर्वरकों को अलग कर दिया है।

अंत में, यदि हम इंजीनियरों को स्पात के कारखानों से अलग हटा दें तो इन आवश्यक स्पात के ट्रैक्टर कारखानों को साधनों से वंचित कर देंगे लेकिन भारत की परिस्थितियों में ट्रैक्टर आवश्यक नहीं है सिवाय उन परिस्थितियों के जहां नए भू-क्षेत्रों का सुधार किया जाए और हमारे देश में इंजीनियरों की भी कमी नहीं है। कुछ भी क्यों न हो, बिना किसी हानि के स्पात का आयात किया जा सकता है, जैसा कि कई विकसित देश कर रहे हैं और जहां सभी विरल वित्तीय संसाधनों को खाद्यान्न के उत्पादन में लगाया गया है क्योंकि खाद्यान्न के अभाव में न तो कोई आदमी जीवित रह सकता है और न ही कोई राष्ट्र ठहर सकता है।

भारत सरकार ने कृषि के प्रति जो कंजूसी बरती है उसकी तुलना उन उन्नत देशों से की जा सकती है जिन्होंने आधुनिक समय में कृषि पर अत्यधिक ध्यान दिया है जिसके फलस्वरूप पश्चिम के उन देशों में कृषि अधिक उत्पादकताशील हो गई और मूल उद्योगों में यह सर्वाधिक पूंजीप्रधान मूल उद्योग हो गया है। यह उद्योग अब ऐसा है जिसमें उत्पादन की प्रति इकाई के लिए अधिकाधिक वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, लगभग 50 वर्ष पूर्व चीन और यहां तक कि भारत में प्रति एकड़ चावल की पैदावार पश्चिमी देशों की तुलना में कहीं अधिक थी जबकि आज कैलीफोर्निया में सिंचित चावल के खेतों की प्रति एकड़ पैदावार चीन के उतने ही खेत की अपेक्षा दस गुनी (या इससे अधिक) होती है। बहुत से औद्योगिक देश जो कभी खाद्यान्न का आयात करते थे, आज न केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही करते हैं बल्कि वे अतिरिक्त खाद्योत्पादन करते हैं। वास्तव में, आधुनिक कृषि कहीं अधिक अन्न उपजाने में समर्थ है जबकि, वास्तव में, आज उतने खाद्यान्न का उत्पादन नहीं हो पाता।

7

किसान का शोषण

कृषि में कम वित्तीय निवेश के अतिरिक्त खाद्यान्नों की सस्ती कीमतें दूसरा मुख्य कारण है जिसके फलस्वरूप समग्र रूप से किसानों की और वास्तव में सभी ग्रामीणों की और यहां तक कि संपूर्ण देश की निर्धनता बढ़ी है, जैसा कि पाठकों को पहले ही ज्ञात हो चुका है।

विशेष रूप से, साम्यवादी समाज में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि गरीब और मध्य वर्ग के किसान सामान्यतया फसल के समय तुलनात्मक रूप से कम कीमतों पर अपना अनाज बेचने के लिए बाध्य हो जाते हैं और कमी के महीनों में उसी अनाज या अन्य खाद्यान्न की खरीद के लिए फसल काटने के समय की कीमतों से दुगुनी कीमत चुकाते हैं। वास्तव में खाद्यान्नों की ऊंची कीमतों से ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की अधिकांश निर्धन जनसंख्या जो अपनी कम आय का 80 प्रतिशत से अधिक भाग खाद्यान्नों पर व्यय करती है, उसकी आय पूंजीपति किसानों में पुनर्वितरित हो जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के इस प्रतिपादन को वी० के० आर० वी० राव के इस कथन से समर्थन मिलता है कि "ग्रामीण जनता के अधिकांश भाग को खाद्यान्नों की कीमतों की वृद्धि से कोई लाभ नहीं होता बल्कि अधिकांश ग्रामीण जनता पर वास्तव में, इस मूल्य वृद्धि का विपरीत प्रभाव पड़ता है।"[1]

श्री माइकेल लिपटन जो ससैक्स विश्वविद्यालय के विकास अध्ययन संस्थान के प्राध्यापकीय फैलो हैं और वे ग्रामीण अध्ययन अनुसंधान कार्यक्रम के मार्गदर्शक भी हैं, उन्होंने अभी हाल ही में विश्व विकास में शहरी पक्ष की दृष्टि से अध्ययन किया है। उन्होंने विभिन्न देशों के तकनीकी मिशनों के सदस्य के रूप में काम किया है और वे

1. सी० बी० हनुमन्तराव द्वारा लिखित लेख—"कॉन्ट्रोवरसी ऑन इण्डियन अगरैरियन सीन" (भारतीय कृषि-स्थिति पर वाद-विवाद) जो 'लिंक', नई दिल्ली में 26 जनवरी, 1982 को प्रकाशित किया गया था।

बंगलादेश, श्रीलंका, सूडान और अन्य देशों में तथा कई अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में, जिनमें अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय और विश्व बैंक सम्मिलित हैं, सलाहकारी कार्य में लगे हुए हैं। उनके कार्य-क्षेत्र में भारत के एक गांव में 8 महीनों का अनुसंधान कार्य भी शामिल है। उन्होंने हाल ही में एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक है—'वाई पूअर पीपल इस्टे पूअर' (टैम्पल स्मिथ, लंदन, 1979)। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में श्री माइकेल लिपटन ने इस बात का उल्लेख किया है कि अन्य गरीब देशों के समान ही भारत के ग्रामीण समुदाय का सामूहिक हित सस्ते खाद्यान्न के विरुद्ध है।

> "यह तथ्य ऐसे किसानों के संबंध में तो सुस्पष्ट है जो नगरों में खाद्यान्न बेचते हैं; बल्कि 'कम खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले किसानों' अथवा निवल खाद्यान्न खरीदार (जो अपनी भूमि से ही अपने पोषण के लिए बहुत कम उगा पाते हैं) तक भी उस स्थिति में प्रायः लाभ उठाते हैं जब खाद्यान्न महंगा होता है, परंतु शायद यह स्थिति बहुत कम समय के लिए होती है। कम खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले किसान अपनी भूमि से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते और अधिक खाद्यान्न क्रय करने के लिए उन्हें अन्यत्र काम करना ही चाहिए। वे प्रायः फसल के निर्धारित भाग के लिए फार्मों पर काम करते हैं और ऐसा करना उस समय अधिक मूल्यवान होता है जबकि खाद्यान्न की कीमतें अधिक होती हैं। चाहे वे फसल-मजदूरी या नकद राशि के लिए काम करते हों, ऐसे समय में बड़े-बड़े किसानों को अधिक श्रमिकों के रखने से लाभ होता है जबकि खाद्यान्न अपेक्षाकृत अधिक महंगा होता है और इससे कृषि-मजदूरी तथा ग्रामीण रोजगार में वृद्धि होती है। ग्रामीण कारीगर जो बड़े-बड़े किसानों के उत्पादन और उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, यथा—बढ़ई, रस्सी बटने वाले, सुनार को अपेक्षाकृत अधिक मजदूरियों पर अधिक काम मिल जाता है जब उनके संरक्षक खाद्यान्न अधिक महंगा हो जाने के कारण धनी होते हैं; और कई निर्धन किसान पारंपरिक दस्तकारी के कार्यों से अपनी आय की कमी मुश्किल से पूरी कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त, जब खाद्यान्न महंगा होता है तब धनी किसानों के पास उधार देने के लिए अपेक्षाकृत अधिक राशि होती है, इसलिए ऋण लेने वाले निर्धन व्यक्तियों के लिए ब्याज की दर कम हो जाती है क्योंकि ऋण-दाता आपस में प्रतियोगिता करते हैं। यहां तक कि देहाती सीमाओं पर रहने वाले लोगों, अभी हाल ही में प्रवासी शहरी बेरोजगारों की गांव से प्रेषित राशियों में वृद्धि हुई है क्योंकि उनके खेती करने वाले पिता और भाइयों को खाद्यान्न की ऊंची कीमतों से लाभ हुआ है।

" इसका कोई 'गहरा' कारण है कि खाद्यान्न की कीमत का मामला शहर और देहात का ध्रुवीकरण दो विरोधी वर्गों में क्यों कर देता है, जिनमें से प्रत्येक वर्ग पूर्णरूप से सजातीय होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक ग्रामीण

समुदाय में (यद्यपि आजकल कोई भी समुदाय पूर्णतया संकीर्ण नहीं है) इस प्रकार अर्जित अतिरिक्त आय का संचालन होने लगता है। बड़ा किसान, जब उसे अपने उत्पादन के लिए अच्छी कीमत मिल जाती है, ग्रामीण बढ़ई से नया बीज ड्रिल खरीद सकता है। अब वह किसान नाई या धोबी के पास प्राय: जाता है और ग्रामीण दर्जी तथा लुहार से अधिक वस्तुएं लेने का आर्डर देता है। जब खाद्यान्न सस्ता हो जाता है तो आय का यह संचालन गांव से शहर में स्थानांतरित हो जाता है क्योंकि शहरी कामगार शहर में ही अपनी अधिकतम राशि खर्च करेगा क्योंकि उसे यह राशि अब खाद्यान्न खरीदने के लिए नहीं चाहिए।

"गरीब देशों में अधिकांश सरकारें खाद्यान्न की कीमतों को कम करने के लिए जो योजनाबद्ध कार्य कर रही हैं उनसे वर्गहितों की योजना, शहरी पक्षपात के रूप में परिलक्षित होती है। हालांकि, नगर और देहात प्रगति की दिशा में अग्रसर हैं फिर भी, सशक्त देहाती हितों को लालच देकर खत्म कर दिया जाता है (निविष्टियों के रूप में ट्रैक्टर और नलकूप आदि प्रदान करके आर्थिक सहायता देना। इनका प्रयोग केवल ग्रामीण लोग ही करते हैं) शहरी नियोक्ता चाहता है कि खाद्यान्न सस्ता हो ताकि उसके काम पर लगे हुए श्रमिकों को भरपेट अन्न मिले और उनकी उत्पादन क्षमता बढ़े। शहरी कामगार भी सस्ता खाद्यान्न ही चाहता है ताकि उसे अपने नियोक्ता से जो कुछ भी मजदूरी मिले उससे खाद्यान्न-आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद अधिक राशि अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बच सके।

"इसलिए भारत में बुनियादी संघर्ष पूंजी और श्रम के बीच में नहीं है बल्कि पूंजी और ग्रामीण क्षेत्र, किसान और नगर के निवासी, ग्रामीण [अस्थायी तौर पर शहर में बसे हुए (अनुषंगी ग्रामीण) को शामिल करते हुए] और शहरी औद्योगिक नियोक्ता व सर्वहारा विशिष्ट वर्ग, महंगे खाद्यान्न से लाभ उठाने वालों और सस्ते खाद्यान्न से लाभ उठाने वालों के बीच में है। जब तक शक्ति के शहरी केंद्र और सरकार शहरी हितों के ज़ोरदार विकास के लिए समर्थ और इच्छुक है तब तक गांवों को जहां 80 प्रतिशत जनसंख्या रहती है, कोई लाभ न मिलने के कारण देश समृद्ध नहीं होगा।" (देखिए, पृष्ठ 67-68)

आगे बढ़ने से पूर्व यह विचार करना होगा कि छोटे किसान बेशी उत्पादक क्यों नहीं हो पाते। छ: सदस्यों के एक परिवार को प्रतिवर्ष केवल एक टन खाद्यान्न की आवश्यकता होती है और यदि इसमें निवेश और नई तकनीकों का उपभोग किया जाए तो यह खाद्यान्न आधी एकड़ भूमि पर दोहरी फसल करके उत्पादित किया जा सकता है। ऐसा इसलिए नहीं किया जा जाता क्योंकि छोटे किसान जो कुछ भी पैदा करते हैं उसमें से इतनी बचत नहीं कर पाते कि आवश्यक निवेश कर सकें। यहां तक कि एक छोटा किसान भी बेशी उत्पादक हो सकता है यदि वह बचत कर पाए और वह भूमि में

निवेश कर सके। एक बात बहुत स्पष्ट की जानी चाहिए : छोटे पैमाने पर खेती, उच्च उत्पादकता और कम कीमत एक साथ नहीं चल सकतीं। इन तीनों में से हम किसको त्यागें। हम छोटे पैमाने की खेती को नजरअंदाज नहीं कर सकते। 1970 में छोटे किसानों, सीमांत किसानों और उपसीमांत किसानों का (अंतिम वर्ग के किसानों के पास आधे हेक्टेयर से कम या 1.25 एकड़ भूमि होती है) समस्त खेतिहरों में से 70 प्रतिशत भाग था। वे बढ़ती हुई उत्पादकता के बिना जीवित नहीं रह सकते; इसलिए सरकार के सामने केवल यही उपाय है कि वह किसानों को लाभकारी कीमतें अदा करे ताकि वे बचत कर सकें और भूमि में निवेश कर सकें।

फिर भी, यह तथ्य है कि पूंजीवादी कृषि जो राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल है, देश में आज भी विद्यमान है। इससे पूर्व, पृष्ठ 157 पर दी गई तालिका 43 में यह दिखाया गया है कि 1970 में प्रति जोत 20 हेक्टेयर से अधिक क्षेत्रफल वाली जोतों की संख्या 6,31,000 (4,49,000 व्यक्तिगत और 1,82,000 संयुक्त रूप में) थीं। इन जोतों का कुल क्षेत्रफल 2,15,43,000 हेक्टेयर था जिसके अनुसार औसत जोत का क्षेत्रफल 34 हेक्टेयर या 85 एकड़ होता है। यद्यपि देश में ये जोतें कुल जोतों का केवल 0.9 प्रतिशत भाग ही थीं फिर भी इन कुल जोतों के क्षेत्रफल का यह 13.3 प्रतिशत भाग था। 1972 और 73 में भूमि के उच्चतम सीमा कानून बनाए गए, जिनका भूमि की स्थिति पर बहुत कम अथवा बिल्कुल ही प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन इन बड़े फार्मों की विद्यमानता के तथ्य को जिनकी स्थिति का छद्मावरण कर दिया गया ताकि वे कानून की गिरफ्त में न आ सकें, या जो अभी भी सरकार के आवश्यक दृढ़ संकल्प के अभाव में बने हुए हैं, उन्हें किसानों के समुदाय को लाभकारी कीमतें देने से इन्कार करने का आधार नहीं बनाया जा सकता। साम्यवादियों के सामूहिक फार्म, जो कि उनका आदर्श है, की तुलना में व्यक्तिगत फार्म में—चाहे वह पूंजीपति का हो या अन्य किसी का—प्रति एकड़ अधिक उत्पादन नहीं होता जो कि भारत की अर्थव्यवस्था का उद्देश्य हो सकता है।

किसान की ओर से यह तर्क दिया जाता है, और यह ठीक भी है कि यदि अलाभकारी स्तरों पर कीमतें गिरने दी जाएं तो कृषि-विकास के सर्वोत्तम तकनीकी और प्रशासकीय कार्यक्रमों से वांछित उत्पादन नहीं मिल सकेगा। इसके साथ ही साथ विशेषतया मौसम की अनिश्चितताओं के कारण पैदावार में काफी उतार-चढ़ाव होता है। अतः कृषि-उत्पादन का मांग के अनुरूप समायोजन नहीं किया जा सकता। कृषि की यह विचित्रता (जो इस तथ्य से जुड़ी हुई है कि अधिकांश फार्म से उत्पादित वस्तुएं कम कीमत के लोच से संबंधित हैं) किसान की निर्धनता का मुख्य कारण है। किसान के लिए कीमतों को व्यावहारिक बनाने और न्यूनतम कीमतों की गारंटी देने से उसकी कहीं अधिक सहायता की जा सकती है जो सरकार द्वारा किसी अन्य प्रकार की सहायता से नहीं हो सकती। चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) के अनुसार, "यद्यपि नई प्रौद्योगिकी से उत्पादक को अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन की प्रत्याशा हो जाती है, फिर भी उनकी खेती की लागतें अपेक्षाकृत अधिक होती हैं और इसलिए सुनिश्चित न्यूनतम

कीमतों के निर्धारण के प्रयत्नों द्वारा उत्पादन को सहायता देने की विशेष आवश्यकता है।" (पृष्ठ 144) यदि एक बार किसानों को 'उचित' न्यूनतम कीमत का आश्वासन दे दिया जाय तो वे उत्पादन की आवश्यकताओं अथवा संसाधन सुविधाओं को अपने आप ही प्राप्त करने की कोशिश करेंगे और फिर वे पूरी लगन से मेहनत करेंगे।

अब, कृषि में केवल दो स्थितियां हो सकती हैं, यथा—न्यून उत्पादन या अधिक उत्पादन। न्यून उत्पादन की स्थिति में अर्थात् जब मांग की अपेक्षा आपूर्ति कम होती है तो समर्थित कीमत का प्रश्न ही नहीं उठता; अपने आप ही कीमतें ऊंची होती जाएंगी और किसान संभवतया कुछ अधिक मांगने की स्थिति में नहीं होगा। इसके विपरीत, ऐसी स्थिति में सरकार यह सुनिश्चित करना चाहेगी कि समाज के अतिसंवेदनशील वर्गों को इस योग्य बना दिया जाए कि वे सुनिश्चित दरों पर खाद्यान्न ले सकें (यह किसानों को ज्यादा खाद्यान्न उत्पादन करने के प्रोत्साहन को बनाए रखने के लिए भी संगत है)।

नगरों और खाद्यान्न की कमी वाले क्षेत्रों में सस्ते खाद्यान्न की आपूर्ति की नीति के अनुपातन में, (क) भारत सरकार ने 29 अगस्त, 1956 को अमरीका के साथ (उस देश के पब्लिक लॉ-480 के अंतर्गत) समझौता किया ताकि रियायती दरों पर खाद्यान्न का आयात किया जाए; और (ख) देश में खाद्यान्न वसूली की कीमतों को लगभग योजनाबद्ध तरीके से इस प्रकार निर्धारित किया गया कि वे कीमतें बाजार की कीमतों से कम रहें। जबकि इन दोनों उपायों से सरकार को उस राज-सहायता का भुगतान करने से राहत मिली जिसमें किसानों के लिए ऊंची कीमतें निहित होतीं, इसके साथ ही साथ इन दोनों उपायों से किसानों में अपेक्षाकृत अधिक खाद्यान्न उत्पादन करने का उत्साह भी नहीं रहा।

अमरीका की खाद्यान्न सहायता ने कृषि-सुधार की तात्कालिकता को हटा दिया : इससे सरकार आत्मसंतोष में शांत हो गई और इसके कारण सरकार खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने के लिए पर्याप्त लोक-निधियों का आवंटन करने से रुक गई। इतना ही नहीं, इसके कारण कृषि में निजी निवेश को भी प्रोत्साहन नहीं मिला। **जब अमरीका ने अपनी सभी खाद्यान्न-सहायता को रोकने की धमकी दी तभी कृषि की नवीन नीति अपनाई गई जो कि 'हरित क्रान्ति' के रूप में पराकाष्ठा पर पहुंच गई।**

जुलाई 1956, जून 1957 में जैसे ही पीएल-480 का समझौता कार्यान्वित किया गया गेहूं का आयात घरेलू उत्पादन के बाजार में बेचे जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन का 93 प्रतिशत हो गया। अगले वर्ष गेहूं का निर्यात बाजार में बेचे जाने वाले घरेलू अतिरिक्त खाद्यान्न से अधिक हो गया और बाजार की आपूर्तियां दुगुने से भी अधिक हो गईं। आयात किए जाने वाले गेहूं में तेजी से अधिक वृद्धि होती गई (सिवाय 1960-61 और 1961-62 में इसका उलटा ही हुआ) और यह वृद्धि 1965-66 में बाजार में बेचे जाने वाले घरेलू अतिरिक्त खाद्यान्न के 232 प्रतिशत की उच्च सीमा तक पहुंच गई। यद्यपि उसके बाद इस उच्च सीमा में परिवर्तन आया फिर भी 1966-67 में भारी मात्रा में आयात किए गए। उस वर्ष उन आयातों की मात्रा बाजार में

बेचे जाने वाले घरेलू अतिरिक्त उत्पादन का लगभग 173 प्रतिशत थी। कृषि वर्ष 1956-57 (जब पीएल-480 के अन्तर्गत गेहूं का आयात प्रारंभ किया गया था) से वर्ष 1971 (जब इन आयातों की समाप्ति हुई) के अंत तक कुल आयात किया गया गेहूं 63.41 लाख टन था, जो उस अवधि में बाजार में बेचे जाने वाले अतिरिक्त घरेलू खाद्यान्न (अनुमानतः 63.31 लाख टन) के बराबर था।

आयात किए गए गेहूं की मात्रा से प्रभावित होकर गेहूं की कीमत में जो उतार-चढ़ाव हुए उनके कारण गेहूं-उत्पादन के क्षेत्र में भी कीमतों में उतार-चढ़ाव हुए। अन्य स्थानों के किसानों के समान ही भारतीय किसानों ने भी कीमतों और लाभों के प्रति सुग्राहिता प्रदर्शित की। अतः उन्होंने गेहूं उत्पादन के क्षेत्र में उस समय वृद्धि की जब उन्होंने यह सोचा कि गेहूं की कीमत काफी अच्छी है और उन्होंने उस समय गेहूं के उत्पादन के क्षेत्र में कमी कर दी जब उन्होंने यह सोचा कि गेहूं की कीमत बहुत कम है। 'रूढ़िवादी' भारतीय किसान का लोकप्रिय विचार उसके अपने पारंपरिक तौर-तरीकों से बंध गया था जिसका वास्तविक जीवन से कोई सरोकार नहीं है। वह लाभ और हानि के प्रति ठीक उसी प्रकार प्रतिक्रिया करता है जैसाकि अन्य सचेत मानव अन्य क्षेत्रों में किया करते हैं।

तालिका 66 में यह दिखाया गया है कि पीएल-480 से पूर्व गेहूं की खेती के क्षेत्रफल में बराबर वृद्धि हुआ करती थी लेकिन अगस्त, 1956 में पीएल-480 के समझौते की घोषणा और बाद में गेहूं की अधिकाधिक मात्रा के आते रहने से गेहूं उगाने वाले किसानों ने दूसरे ही वर्ष 1957-58 में अपनी फसलों के कार्यक्रमों को पुनः व्यवस्थित कर लिया। उन्होंने 180 लाख हेक्टेयर भूमि कृषि-क्षेत्र से हटाकर अन्य फसलों के क्षेत्रों में बदल ली और गेहूं के उत्पादन में पहले 14 लाख टन तक की कमी आयी।

1963-64 से 1965-66 तक के तीन वर्षों की अवधि में गेहूं की कीमत में 64 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई। फिर भी गेहूं उगाने वाले क्षेत्र में बराबर कमी होती गई और 1965-66 में 126 लाख हेक्टेयर भूमि के निचले स्तर तक के क्षेत्रफल में गेहूं की खेती की गई जबकि अन्य अनाजों की कीमतों में तीव्रता से अधिक वृद्धि हुई और अपेक्षाकृत अधिक पैदावार हुई।

दूसरी ओर, 1967 में पीएल-480 की आपूर्ति में कमी दिखने लगी और गेहूं को कीमत के दमन से मुक्त कर दिया गया। अतः 1967-68 में गेहूं की खेती के क्षेत्र-फल में 22 लाख हेक्टेयर तक वृद्धि हो गई और गेहूं के उत्पादन में 51 लाख टन तक वृद्धि हुई। इसके बाद गेहूं की खेती वाले क्षेत्र में बराबर वृद्धि होती गई और यह वृद्धि 1967-68 में 150 लाख हेक्टेयर गेहूं की खेती से बढ़कर 1972-73 में 195 लाख हेक्टेयर की अब तक की सर्वाधिक संख्या पर पहुंच गयी। और 1972-73 में गेहूं का उत्पादन 247 लाख टन था जोकि 1966-67 के उत्पादन की अपेक्षा दुगुने से भी अधिक था।

वर्ष 1972-73 में गेहूं के लिए राज्य व्यापार प्रारंभ किया गया जिसके फल-

स्वरूप किसानों को अपने उत्पादन का कुछ भाग कम कीमत पर देने के लिए बाध्य होना पड़ा। अतः वर्ष 1972-73 में जितने क्षेत्र में गेहूं की खेती की गई थी उसकी तुलना में वर्ष 1973-74 में गेहूं की खेती के क्षेत्र में 8.8 लाख हेक्टेयर की कमी हो गई। आगामी वर्ष (1974) में राज्य व्यापार बंद कर दिया गया लेकिन तुलनात्मक रूप से कम कीमत की नीति जारी रही जिसका परिणाम यह हुआ कि गेहूं की खेती के क्षेत्रफल में जो कमी आई थी वह आगामी वर्ष 1974-75 में भी बनी रही जो कि 1973-74 में 186 लाख हेक्टेयर की तुलना में 181 लाख हेक्टेयर थी। यह एक अलग बात है कि अच्छे मौसम के कारण उत्पादन में वृद्धि हुई है।

तालिका 66

गेहूं का क्षेत्र और उत्पादन

(1950-51 से 1974-75)

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टेयर में)	कुल उत्पादन (लाख मीट्रिक टन में)	प्रति हेक्टेयर उत्पादन (क्विटलों में)
1	2	3	4
1950-51	97	65	6.630
1951-52	95	62	6.528
1952-53	98	75	7.632
1953-54	107	80	7.506
1954-55	113	90	8.032
1955-56	124	88	7.083
1956-57	135	94	6.953
1957-58	117	80	6.818
1958-59	126	100	7.892
1959-60	134	103	7.716
1960-61	129	110	8.507
1961-62	136	121	8.896
1962-63	136	108	7.929
1963-64	135	99	7.299
1964-65	134	123	9.132
1965-66	126	104	8.268
1966-67	128	114	8.874
1967-68	150	165	11.028

(क्रमशः)

1	2	3	4
1968-69	160	187	11.688
1969-70	166	201	12.085
1970-71	182	238	13.065
1971-72	191	264	13.799
1972-73	195	247	12.709
1973-74	186	221	11.582
1974-75	180	242	13.385

गेहूं और अन्य अनाजों के घरेलू उत्पादन पर सरकारी नीति का वास्तव में विपरीत परिणाम ही रहा। पीएल-480 आयातों के प्रथम वर्ष, 1956-57 में घरेलू उत्पादन ने गेहूं की कुल आपूर्ति का 74 प्रतिशत भाग उपलब्ध कराया जो कि निवल घरेलू उत्पादन और शुद्ध आयातों का जोड़ है। यह प्रतिशतता 1964-65 में गिरकर 62 हो गई जबकि उस वर्ष भरी-पूरी फसल हुई थी और वह वर्ष पीएल-480 की सहायता का नवां वर्ष था। यह प्रतिशतता और भी कम होकर 1965-66 में 54 रह गई।

1966-67 के आगामी वर्षों में कीमत के दमन से अनाज मुक्त हो गए और अनाजों के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। यहां तक कि गेहूं का उत्पादन अन्य अनाजों के उत्पादन की अपेक्षा बहुत तेजी से आगे बढ़ा। गेहूं की कीमत के दमन और उसके कुप्रभावों को शायद हटाया जा सकता था, यदि आयात किया जाने वाला गेहूं निजी व्यापार को सौंप दिया जाता। यदि बाजार की कीमतों की प्रक्रिया बनी रहती अथवा पीएल-480 के आयात किए गए गेहूं को मंडियों की कीमतों के उतार-चढ़ाव के अनुसार नियमित कर दिया गया होता तो गेहूं के आयात उस समय बंद हो ही जाते जबकि सभी अनाजों की कीमतें घटने लगी थीं और गेहूं की कीमतें सामान्य समय जैसी थीं, यथा—ये कीमतें चावल और ज्वार की कीमतों के लगभग मध्य की कीमतें थीं।

इन आंकड़ों से यह पता चलता है कि सूखे के दो वर्षों—1966 और1967 को छोड़कर 1957,1960, 1962 और 1965 में सबसे अधिक गेहूं के आयात किए गए थे जबकि गेहूं की कीमतें ज्वार की कीमतों के बराबर थीं या उससे भी कम थीं। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों हुआ। इसका ऐसा कोई उत्तर नहीं है जो विदित तथ्यों से प्रतीत हो। यद्यपि इसी प्रकार 1974 में आयातित अनाजों की कीमतें, जो बहुत ऊंची हो चुकी थीं, घटीं; लेकिन ये कीमतें 1975-76 की तुलना में देश में गेहूं और चावल की वसूली-कीमत से कहीं अधिक थीं। फिर भी इन वर्षों में क्रमशः 74 लाख और 65 लाख टन गेहूं का आयात किया गया। स्पष्टतया, घरेलू किसानों की अवहेलना करके विदेशी किसान की सहायता करने का कोई औचित्य नहीं था और इस सौदे में काफी विदेशी मुद्रा खर्च की

गई। यदि इस योजना का उद्देश्य सुरक्षित भंडार बनाना था तो इस प्रकार के भंडार बनाने के लिए अपेक्षाकृत कम कीमतों पर देसी गेहूं खरीदा जा सकता था। यह बात सरकार को कई बार बताई गई कि देश में खाद्यान्न की जो वसूली की जाती है उसकी कीमत बहुत कम है। कम वसूली का कारण लागत और लाभ के प्रतिमान को मिलाकर वसूली-कीमत का निर्धारण था। फिर भी, सरकार ने अनसुनी कर दी। सरकार यह बात नहीं समझ पायी कि औद्योगिक नवीन प्रक्रियाओं के बाद किसानों को दी जाने वाली सहायता को बनाए रखना कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए एक निर्णायक शर्त है।

पीएल-480 सहायता का भारत के किसानों पर और साथ ही देश की अर्थ-व्यवस्था पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में माइकेल लिपटन ने 1979 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वाई पूअर पीपल इस्टे पूअर' में लिखा है :

> "भारत पीएल-480 सहायता का सबसे बड़ा प्राप्तकर्ता रहा है। पीएल-480 के खाद्यान्नों के दिए जाने से गेहूं की बिक्री की कीमतों में कटौती के कारण भारतीय किसानों को जो तात्कालिक हानियां हुई, उनका मोटा अनुमान 1957-63 में कुल खेती की आय का 1.9 प्रतिशत, 1964-67 में 7.7 प्रतिशत और 1968-69 में 1.2 प्रतिशत था। केवल यहीं पर बात खत्म नहीं हो जाती; प्रतिवर्ष धीरे-धीरे आयातित और वितरित पीएल-480 के प्रत्येक अतिरिक्त टन अनाज का घरेलू किसानों को हतोत्साहित कर देने वाला प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप उनका उत्पादन (और अब उस उत्पादन से होने वाली आय में) प्रतिवर्ष लगभग एक-तिहाई टन कम होता गया। किसान ने गेहूं की अपेक्षा अन्य फसलें उगाकर इस हानि के अधिकांश भाग की पूर्ति की, लेकिन उसका लाभ अपेक्षाकृत कम था (अन्यथा वह पीएल-480 के समय से पूर्व ही अन्य प्रकार की फसलें बोना शुरू कर देता); कोई भी अन्न क्यों न उपजाया जाए, उससे होने वाले लाभकारी कार्य प्रायः गांव से शहरों में स्थानांतरित हो जाते हैं और कुछ भी क्यों न हो, कुल कृषि उत्पादन कम हो जाता है (पीएल-480 के खाद्यान्नों को वितरित करने से खाद्यान्न-कीमतें टूटती हैं) उसकी औसत कीमत कम हो जाती है। एस० आर० लुईस ने इस स्थिति के विषय में सारांश में बताया है कि पीएल-480 के अधीन अतिरिक्त अन्न-प्राप्ति से प्रतिपूर्ति के अभाव में, वास्तव में अन्य वस्तुओं पर भार पड़ता है।" (पृष्ठ 294)

देहाती और सरकारी क्षेत्रों में व्यापक रूप से यह विश्वास था और अब भी है कि किसानों को शिकायत करने का तब तक कोई कारण नहीं है जब तक कि उन्हें अपने उत्पादन की वह कीमत मिले जो उनकी लागतों को पूरा करती है और उन्हें 'उचित' लाभ देती है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर कृषि-कीमत आयोग कार्य कर रहा है और वह कृषि-उत्पादन के लिए कीमतों की सिफारिश करता है। इन बदलती हुई कीमतों के प्रति गेहूं का उत्पादन करने वाले किसानों की प्रतिक्रिया से यह

पता चलता है कि किसान जिस विशेष बात पर ध्यान देता है वह कीमतों और लाभ का सापेक्ष सम्बन्ध है। यदि अन्य फसलों की अपेक्षा गेहूं के लिए लागत और कीमत-निर्धारण से कम लाभ हो तो किसान भी अन्य बुद्धिमान व्यापारियों की तरह गेहू उगाने वाले खेती के क्षेत्रों को अन्य फसलों के उगाने के क्षेत्रों में बदल लेगा।

इसका भी कोई कारण नहीं है कि अकेले किसानों को ही उस लक्ष्य के लिए बलिदान करने के लिए क्यों कहा जाए जो प्रकृति से राष्ट्रीय है अर्थात् हमारी जनता के निर्धन वर्गों में सस्ते अन्न की आपूर्ति। यह सभी लोगों का काम है अर्थात् यह संघीय सरकार के बजट के लिए ही है कि उन सभी कार्यों के लिए राज-सहायता उपलब्ध की जानी चाहिए जो कम कीमतों में निहित हैं। भारत सरकार उन विभिन्न वर्ग के लोगों को राज-सहायता और प्रोत्साहन देती है जो कृषीतर क्षेत्रक में विदेशी मुद्रा कमाते हैं। फिर भी, उन खाद्यान्न उत्पादकों को जो विदेशी विनिमय मुद्रा को सरलता से बहुत अधिक बचा देते हैं, कीमतों के रूप में अधिक चुकाना पड़ता है और या उनके साथ कई तरीकों से भेदभाव किया जाता है। प्रायः यह सोचा जाता है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली से केवल निर्धन की सेवा की जाती है लेकिन यह तथ्य निराधार है : अधिकतर जो अन्न बांटा जाता है उसका अधिकांश भाग महानगरों, औद्योगिक और वाणिज्यिक क्षेत्रों तथा अन्य शहरी क्षेत्रों को भेज दिया जाता है। इन क्षेत्रों में अधिकांश लोग बाजार मूल्य चुकाकर चीजें खरीद सकते हैं। इस प्रकार किसानों को बाध्य कर दिया जाता है कि वे अपने हितों का बलिदान उन लोगों के लिए कर दें जो उनकी अपेक्षा अमीर ही नहीं बल्कि कहीं अधिक अमीर हैं, इस स्थिति से किसान और भी अधिक गरीब होते जाते हैं।

शहरी क्षेत्रों के उन लोगों को सरकार को प्रत्यक्ष कर अदा करना होता है, जिनकी निवल वार्षिक आय 12,000 रुपये से अधिक हो। अब 10 हेक्टेयर से कम भूमि वाले किसान भी औसतन इतनी राशि पैदा नहीं कर सकते। लेकिन उन किसानों को जिनके पास 2 हेक्टेयर या इससे भी कम भूमि है उन्हें भी न केवल नगरों में रहने वाले गरीब लोगों के हित व लाभ के लिए बल्कि उनके लिए भी जो आय करदाता हैं, यथा—जिनकी आय प्रतिवर्ष 12,000 रुपए या इससे अधिक होती है, उनके लिए उगाही देनी होती है। यह भी याद रखना चाहिए कि सभी किसानों को भू-राजस्व के रूप में सरकार को प्रत्यक्ष कर अदा करना होता है, चाहे उनके पास केवल आधी हेक्टेयर भूमि ही क्यों न हो और चाहे उनकी आधी फसल ओलावृष्टि, कीटों अथवा अकाल से बर्बाद ही क्यों न हो गई हो।

गरीब लोगों को अथवा नगर में रहने वाले सभी व्यक्तियों को किसानों की हानि करके सस्ते खाद्यान्न की आपूर्ति की आवश्यकता के बारे में जो तर्क दिया जाता है उसकी अहमियत पीएल-480 के प्रबंधन और फार्म कारकों (यथा—जल और उर्वरक) तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए जरूरी विनिमित वस्तुओं की ऊंची कीमतों के कारण कम होती जाती है।

एक किसान की आय, लाभ, बचत और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमि में

निवेश करने की उसकी क्षमता उन कृषीतर उत्पादों की मात्रा से निर्धारित की जाती है जो वह अपने उत्पादन में से एक बोरी गेहूं, चावल अथवा कृषि-उत्पाद को बेचकर खरीद सके। उसकी क्रय-शक्ति का निर्धारण उसकी उत्पादक क्षमता और साथ ही साथ किसी विशेष समय में उसकी कृषि और कृषीतर वस्तुओं की कीमतों के बीच विद्यमान संबंध से किया जाता है। यदि ग्रामीण क्षेत्रक में उसके विकास के लिए बराबर धन लगाया जाता रहे तो यह अधिक उपयोगी तब तक नहीं होगा, जब तक कि साथ ही साथ उचित व्यावहारिक कीमतों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र से इस राशि की निकासी नहीं की जाती और हमारे देश में अभी तक हमेशा यही होता रहा है।

माइकेल लिपटन ने कहा है, "कृषि की कीमतों की तुलना में उर्वरकों की कीमतें पाकिस्तान की अपेक्षा भारत में अधिक रही हैं और ये कीमतें विश्व में सबसे अधिक हैं।"[1] इसलिए कृषि-उत्पादों की ऊंची कीमतों का मांगना उदारता अथवा राज-सहायता की दलील ही नहीं बल्कि समता के आधार पर एक सही दावा है।

इस बात पर ध्यान देना रोचक है कि कोरिया और जापान में जितना चावल पैदा होता है उसका लगभग 30 प्रतिशत चावल भारत के प्रति हेक्टेयर में औसत रूप से पैदा होता है लेकिन हमारे राष्ट्रीय प्रदर्शन वाले खेतों में औसत उपज उतनी ही है जितनी कि इन देशों में उपज होती है। इससे यह विदित होता है कि हमारे देश में चावल-उत्पादन के लिए कृषि तथा जलवायु की परिस्थितियां दक्षिण कोरिया अथवा जापान की परिस्थितियों से खराब नहीं हैं। भारत में यदि कुछ भी अभाव है तो वह कृषि के प्रति राजनीतिक समर्थन है। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि कृषि और कृषीतर वस्तुओं के व्यापार के बारे में सोचा जाए तो यह स्थिति भारतीय किसानों के बारे में अधिक विरोधी है। इस तथ्य को चावल के संबंध में निवेश-उत्पादन की दृष्टि से तुलनात्मक रूप से निम्नांकित तालिका में दिखाया गया है जो पूर्व के विभिन्न देशों में विद्यमान है।

तालिका 67

चावल की आगत-निर्गत कीमतों का संबंध

देश	एक किलो नाइट्रोजन की कीमत रुपयों में	एक किलो धान की कीमत रुपयों में	एक किलो नाइट्रोजन की कीमत एक किलो धान की तुलना में
1	2	3	4
जापान	5.94	7.82	0.76
कोरिया	4.63	3.49	1.32
फिलीपीन्स	4.06	1.30	3.12
भारत	3.50	(i) 0.89	(i) 3.93
		(ii) 0.85	(ii) 4.12

(क्रमशः)

1. आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लंदन द्वारा 1968 में प्रकाशित 'क्राइसिस ऑफ इंडियन प्लैनिंग' पुस्तक में सम्मिलित माइकेल लिपटन के लेख से उद्धृत अंश, पृष्ठ 102.

1	2	3	4
नेपाल	3.49	1.14	3.06
इण्डोनेशिया	3.09	1.54	2.00
श्रीलंका	2.52	1.54	1.63
बंगला देश	1.95	1.22	1.60
थाइलैंड	2.52	0.81	3.11
पाकिस्तान	2.52	0.81	3.11
ताइवान	2.93	1.46	2.07

स्रोत : वर्ल्ड राइस स्टैटिस्टिक्स, भारतीय चावल-संस्थान, 1977.

टिप्पणी : भारत के संबंध में आंकड़े (i) खुले बाजार से संबंधित हैं, और (ii) वसूली कीमतों से संबंधित हैं।

भारतीय किसान धान की कीमत की तुलना में एक किलोग्राम नाइट्रोजन के लिए एशिया भर में सबसे अधिक कीमत चुका रहे थे, जैसाकि तालिका 67 में दिखाया गया है। यह स्थिति भारतीय किसानों के लिए भविष्य में और भी खराब होती गई। धान और यूरिया की नई कीमतों के अनुसार अब किसानों को एक किलोग्राम नाइट्रोजन खरीदने के लिए 4.58 किलोग्राम धान बेचना पड़ेगा।

यह ध्यान देने योग्य बातें हैं कि जापान का किसान 16,000 रुपए से कम की राशि में अत्याधुनिक डिजायन का 10 हॉर्स पॉवर का 'टिलर' खरीद सकता है जबकि भारतीय किसान उससे घटिया 'टिलर' 22,000 रुपए से कम की राशि में नहीं खरीद सकता।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय किसान जापान के किसान की तुलना में उस समय किस स्थिति में रहेगा जब भारतीय किसान को 10 हॉर्स पॉवर का 'टिलर' खरीदना पड़े। यह तुलना 1978 की कीमतों[2] के आधार पर की गई है।

तालिका 68

मद	इकाई	जापानी किसान	भारतीय किसान
प्रति हेक्टेयर उपज	टन	7	2
धान की वसूली-कीमत	प्रतिटन रुपयों में	7820	850
10 हॉर्स पॉवर टिलर की कीमत	रुपए	16000	22000
धान की तुलना में एक टिलर की कीमत	टन	2.046	25882
एक टिलर के मूल्य के बराबर धान उगाने के लिए निमित्त क्षेत्रफल	हेक्टेयर	0.292	12941

2. 'फार्मर्स वॉयस', नई दिल्ली. विशेषांक, जुलाई 1980, पृष्ठ 2.

ऊपर दी गई तुलना से यह विदित होता है कि जापान में एक किसान को एक पॉवर-टिलर खरीदने के लिए 0.29 हेक्टेयर में पैदा किए गए धान की बिक्री से होने वाली आय की आवश्यकता है जबकि भारतीय किसान को इतने ही हॉर्स पॉवर के टिलर की खरीद के लिए 12.94 हेक्टेयर भूमि (यथा—45 गुना अधिक भूमि) में उत्पन्न धान की बिक्री से होने वाली आय की आवश्यकता होती है।

यदि अमरीका के उन किसानों से तुलना की जाए जो धनी हैं और जिनकी जोतें आकार में अपेक्षाकृत बड़ी हैं तो भारतीय किसानों को अधिक हानिप्रद स्थिति में पाया जाता है। नाइट्रोजन और डीजल तेल कृषि में प्रयुक्त होने वाले दो सबसे महत्त्वपूर्ण कारक हैं। तालिका 69 में जो तुलना की गई है, वह इस बात से विदित होती है कि भारतीय किसानों को, चाहे वे गरीब ही क्यों न हों, इन दोनों कारकों पर अभी भी किसानों की तुलना में लगभग दुगुनी राशि व्यय करनी होती है।

तालिका 69

भारतीय और अमरीकी किसानों के लिए नाइट्रोजन
और डीजल तेल की तुलनात्मक लागत

मद	भारतीय किसान	अमरीकी किसान
नाइट्रोजन प्रति किलोग्राम (रुपयों में)	3.50 रुपए (यूरिया के रूप में)	1.83 रुपए (एनीड्राअस अमोनिया के रूप में)
डीजल तेल (प्रति लिटर रुपयों में)	1.50 रुपए	0.72 रुपए

इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि इन दोनों कारकों को अर्थात् नाइट्रोजन और डीजल तेल, भारतीय किसानों को उन्हीं कीमतों पर उपलब्ध करा दिया जाए जिन कीमतों पर ये दोनों अमरीकी किसानों को उपलब्ध हैं तो हमारा उत्पादन आगामी दस वर्षों में संभवतः शत-प्रतिशत तक बढ़ जाएगा।

सुप्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक एवं नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० नार्मन ई० बारेलॉग ने जो अंतर्राष्ट्रीय मक्का और गेहूं-सुधार कार्यक्रम मैक्सिको के निदेशक भी थे, 11 सितम्बर, 1973 को भारतीय कृषि शोध संस्थान में विशेष भाषण देते हुए बताया कि भारत में अनाज की पैदावार और भी कम होती जाएगी "यदि अनाज की कीमतें अवास्तविक रूप से कम रखी जाती हैं।" वास्तव में, 1971-72 से 'हरित क्रान्ति' की असफलता के उत्तरदायी कारकों में से एक कारक वसूली-कीमत है। किसान को जल, बिजली, डीजल तेल और उर्वरक की कमी का सामना करना पड़ता है। इस सबके बावजूद, सरकार ने 1974 में गेहूं की वसूली-कीमत 105 रुपए प्रति क्विंटल रखी, जबकि खुले बाजार में भी 105 रुपए कीमत थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1971-72 में अनाज की वसूली 51 लाख टन से गिरकर 1972-73 में 42 लाख टन और

1973-74 में 19 लाख टन हो गई। जैसा कि पाठक ने पहले ही देखा है कि कुल उत्पादन भी 1971-72 में 264 लाख टन से गिरकर 1972-73 में 247 लाख टन और 1973-74 में 221 लाख टन हो गया।

'ईस्टर्न इकनॉमिस्ट' वार्षिक विशेषांक, 1981 में प्रकाशित लेख, "एग्रीकल्चर द टास्क एहैड" में कृषि कीमतों के आयोग के अध्यक्ष ने पंजाब के गेहूं उत्पादन की लागत के आंकड़े दिए हैं जो आगामी तालिका में दिखाए गए हैं और उन्हीं के तदनुरूप वर्षों में इसके साथ ही साथ वसूली की कीमतें भी दिखाई गई हैं। इन आंकड़ों से यह विदित होता है कि वसूली-कीमत उत्पादन की बढ़ती हुई लागत के साथ-साथ न चल सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि गेहूं के उत्पादन का लाभ, यहां तक कि पंजाब जैसे कृषि उन्नत राज्य में भी 1978-79 वर्ष को छोड़कर वर्ष-प्रतिवर्ष कम होता गया क्योंकि 1978-79 वर्ष में बहुत ही अच्छा मौसम था और पैदावार की दर अधिक थी जिससे कि प्रति क्विंटल लागत कम हुई थी।

तालिका 70

पंजाब में गेहूं के उत्पादन की लागत और वसूली कीमतें

वर्ष	गेहूं की वसूली कीमतें	प्रति क्विंटल खेती की लागत	प्रति क्विंटल लाभ	प्रति हेक्टेयर उपज	प्रति हेक्टेयर लाभ
1973-74	105	74.34	30.66	24.87	762.51
1974-75	105	87.76	17.24	27.00	465.48
1975-76	105	99.45	5.55	23.11	128.26
1976-77	105	101.39	3.61	22.74	82.09
1977-78	110	108.57	1.43	22.61	32.33
1978-79	112.5	101.45	11.05	27.49	303.76

जबकि सरकार ने ऐसी उन वस्तुओं के नियंत्रण का न तो प्रयत्न ही किया अथवा असफल रही, जिन्हें किसानों को खरीदना था, फिर भी सरकार ने सफलतापूर्वक मुख्य रूप से गेहूं और चावल जैसी कृषि वस्तुओं की कीमत की वृद्धि रोक ली। यह स्थिति भारी आयातों, अनिवार्य वसूली, व्यापार पर प्रतिबंध और अनाजों के लाने ले की छूट से उत्पन्न हुई है। यह बताने के लिए कि गेहूं और चावल की वसूली कीमतों से कृषि-निवेश की कीमतें अपेक्षाकृत अधिक तेजी से क्यों बढ़ी हैं, इसको दर्शाने के लिए भारत सरकार के एक प्रकाशन—'फूड स्टैटिस्टिक्स' के अंक से कृषि-निवेशों और इन दोनों अनाजों की वसूली-कीमतों के कीमत-सूचकांक दिए गए हैं।

तालिका 71

कृषि-निवेश और वसूली की कीमतों की
सूचकांक संख्या

	1970-71	जुलाई 1975	वृद्धि की प्रतिशतता
डीजल तेल	131.1	324.2	167.7
स्नेहक	141.9	448.9	216.3
उपकरण और औजार	161.6	311.3	92.6
सीमेंट	151.8	255.7	68.4
कच्चा लोहा	200.2	354.3	76.9
उर्वरक	135.6	292.0	115.3
कीट नाशक दवाइयां	129.4	256.6	98.3
गेहूं की वसूली कीमत रुपए/क्विंटल	76.0	105.0	38.16
तीसरे ग्रेड के चावल की वसूली की कीमत रुपए/क्विंटल	89.0	117.0	31.46

इसी प्रकार से ग्रामीण उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों और गेहूं तथा चावल की वसूली-कीमतों की तुलना निम्न तालिका में दी गई है :

तालिका 72

जनवरी, 1970 और जनवरी, 1975 में अखिल भारतीय ग्रामीण फुटकर
कीमतें और इसी अवधि में उनकी वृद्धि की प्रतिशतता

	जनवरी 1970	जनवरी 1975	वृद्धि की प्रतिशतता
1	2	3	4
मिट्टी का तेल रुपए/लिटर	0.67	1.39	107.5
माचिस के पैकेट रुपए पैकेट	0.8	0.13	62.5
मिल की धोती रुपए/प्रति धोती	11.30	23.32	106.3
मिल की साड़ी रुपए/प्रति साड़ी	15.69	28.92	84.3
मिल का कमीज का कपड़ा रुपए/प्रति मीटर	1.64	3.93	139.6

(क्रमशः)

1	2	3	4
कपड़ा धोने का साबुन रुपए/प्रति किलो	2.62	5.23	99.6
अल्यूमिनियम के बर्तन रुपए/100 ग्राम	1.15	2.09	31.7
हरीकेन लालटेन रुपए/संख्या	5.90	10.38	75.9
गेहूं की वसूली-कीमत रुपए/प्रति क्विंटल	76.00	105.00	38.16
तीसरी किस्म के चावलों की वसूली-कीमतें रुपए/प्रति क्विंटल	89.00	117.00	31.46

उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार जनता पार्टी के शासन के प्रथम अट्ठारह महीने में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रकों के बीच व्यापार स्थिति जो पहले थी वह जनता पार्टी के शासन-काल में ग्रामीण क्षेत्रों के और प्रतिकूल हो गई। मार्च, 1977 से सितम्बर, 1978 की अवधि के दौरान कीमत उतार-चढ़ाव सूचकांकों के अभिलेख से यह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

तालिका 73

किसानों द्वारा देय और प्राप्त कीमतों के बीच बढ़ता असंतुलन

वस्तु	1970-71=100 पर आधारित, सूचकांक सप्ताह के अंत के लिए		उतार-चढ़ाव की प्रतिशतता
	19-3-77	30-9-78	
अनाज	159.5	156.9	— 1.6
खाद्येतर वस्तुएं (फार्म उत्पादन)	182.7	168.8	— 7.6
चीनी, खंडसारी और गुड़	194.8	149.3	—23.3
खाद्य तेल	170.0	160.5	— 5.6
दालें	172.7	270.8	+56.8
बिजली	175.8	207.4	+18.0
सूती वस्त्र	171.8	179.1	+ 4.2
सीमेंट, चूना और प्लास्तर	173.8	187.6	+ 7.9
कृषि संबंधी छोटे औजार	216.9	252.0	+16.2
उर्वरक	178.6	175.9	— 1.5

निम्नांकित तालिका से भी यही स्थिति स्पष्ट होती है :

तालिका 74

14-6-1980 के अंत तक सप्ताह के लिए किसानों द्वारा देय और प्राप्त थोक कीमतों का सूचकांक

[आधार : 1970-71=100] सभी वस्तुएं : 243.7

प्राप्त कीमतें		देय कीमतें	
कृषि वस्तुएं	199.0	कृषीतर वस्तुएं	274.0
खाद्यान्न वस्तुए	196.6	खाद (अनुमानित)	237.1
खाद्यान्न	203.1	कीटनाशक	317.6
तेल के बीज	213.5	मिट्टी का तेल	272.8
सब्जियां	194.4	तीव्रगति डीज़ल तेल	285.7
फल	203.6	जूते	253.7
दूध	172.0	ईंटें	389.0
कच्चा कपास	163.5	बर्तन	248.3
कच्चा जूट	129.1	ट्रैक्टर	273.4
कच्चा तम्बाकू	156.7	कृषि (Powrah)	296.7

एकाधिकार के कारण नगर के सौदागरों की अपेक्षा गांव के सौदागर की दुकान पर नमक, साबुन, दियासलाई आदि की कीमतें अधिक होती हैं—दूसरा अर्थ यह है कि जबकि केंद्रीय और राज्य सरकारें किसानों को देय कीमतों के बढ़ाने में अनिच्छुक अथवा असमर्थ होती हैं अथवा बाजार के दबाव से वे कीमतें अपने आप ही बढ़ने लगती हैं, तो इन सबके बावजूद भी राज्य सरकारें तीसरे तरीके को भी स्वीकार करने के लिए इच्छुक नहीं होतीं; यथा—फार्म के निवेशों की कीमतों को या देहात में बिकने वाली विनिर्मित वस्तुओं की कीमतों को कम करना। इस प्रकार, आज भारत में किसान सबसे अधिक शोषित समुदाय है यद्यपि सरकार, कम्युनिस्ट और उद्योगपति इसके विपरीत दूसरी ओर इंगित करते रहते हैं। कीमत निर्धारण तंत्र का उपयोग नहीं किया गया है, जैसा कि उसका उपयोग किया जाना चाहिए था और जिसका प्रयोग ग्रामीण उत्पादकों को सहायता देने की अपेक्षा शहरी उपभोक्ताओं के हित की सुरक्षा के लिए केवल साधन के रूप में किया गया है।

कदाचित, भारत सरकार तभी किसानों की कठिनाइयों पर ध्यान देगी, जब वे लोग लगभग विद्रोह करने के लिए बाध्य हो जाएंगे। जैसी स्थिति भारत में है उसी प्रकार की स्थिति दक्षिणी कोरिया में भी है। स्पष्टतः, कम आय-वर्ग में शहरी निवासियों के भरण-पोषण के लिए कोरिया सरकार ने खुले तरीके से वर्षों तक ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों से भेद-भाव बरता है : किसान को हानि पहुंचाकर चावल की कीमत

कृत्रिम रूप से कम रखी गयी और राष्ट्रीय बजटों को सशक्त रूप में सियोल के पक्ष में बताया गया, लेकिन जब यह स्पष्ट हुआ कि इसका परिणाम खतरनाक ध्रुवीकरण हो गया है तब प्रेसीडेंट पार्क चुंग ही के शासन ने धीरे-धीरे यह मार्ग बदल दिया। हाल ही के वर्षों में कीमत-सहायताओं में वृद्धि की गई है। अब दक्षिणी कोरिया की सरकार उर्वरकों की लागत का 50 प्रतिशत भाग वहन करती है और किसानों को नई मशीनों के उपयोग के लिए प्रोत्साहित करने के लिए कम ब्याज की दर पर ऋण दिए जाते हैं।[3]

सरकार और नगर निवासियों की ओर से भी प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि यदि किसानों को ऊंची कीमत दी गई तो इससे मुद्रा-स्फीति होगी। वास्तव में, इसी तर्क के कारण मुद्रा-स्फीति के विरुद्ध संघर्ष ने आवश्यक रूप से कृषि-उत्पादों की कीमतों के विरुद्ध संघर्ष का रूप धारण कर लिया है। गोखले इंस्टीट्यूट आफ़ इकनॉमिक्स के निदेशक डॉ० वी० एम० दांडेकर ने 17-23 अक्टूबर, 1976 की 'इलस्ट्रेटिड वीकली' में इस प्रकार लिखा था :

> "विनियमन, नियंत्रण, वसूली, अधिकाधिक आयात अथवा आयातों की धमकी जैसे साधनों को अपनाकर खाद्य और कृषि की अन्य वस्तुओं की कीमतों को घटाने के लिए प्रयत्न किए गए हैं। यह एक पुराना सामान्य विचार है कि आर्थिक उन्नति के लिए औद्योगिक विकास की आवश्यकता होती है; औद्योगिक विकास के लिए औद्योगिक शांति की आवश्यकता होती है और औद्योगिक शांति के लिए खाद्यान्न और कच्चे माल की अपेक्षाकृत कम कीमतों की आवश्यकता होती है।"

किसानों और साथ ही देश के लिए दुर्भाग्य से यही विचार सरकारी क्षेत्रों में प्रभुत्व जमाए हुए है।

10 अप्रैल, 1976 को भारतीय कृषि, शिक्षा फाउंडेशन द्वारा संगठित प्रथम भारतीय कृषि कांग्रेस को संबोधित करते हुई प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जो उस समय शासक दल की प्रमुख थीं, कहा कि किसानों को अन्य लोगों के समान अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में अपनी मांगों के प्रभाव को ध्यान में रखना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा, "कमी के दौरान पहुंची कृषि उत्पादों की उच्च स्तर की कीमतों को हमेशा उसी स्तर पर बनाए रखना हमारे लिए संभव नहीं है। मुद्रा-स्फीति से किसानों को सहायता नहीं पहुंचती। खाद्यान्नों और वाणिज्यिक फसलों की ऊंची कीमतें अंततोगत्वा बढ़ी हुई मजदूरी, महंगाई भत्ता आदि की मांग की ओर उन्मुख करती हैं। उद्योग और किसान स्वयं अपने निवेशों के लिए ऊंची कीमतें देने के लिए बाध्य हो जाते हैं।"

श्रीमती गांधी का यह तर्क भ्रामक है, यानी, कारण और प्रभाव को भ्रमपूर्ण

3. 'न्यूज वीक', न्यूयार्क, 17 मई, 1976 में रिचर्ड स्मिथ द्वारा लिखित लेख से उद्धृत।

बना दिया गया है : सामान्य कीमतों में अधिकांश रूप से वृद्धि के कारण खाद्यान्न की कीमतें ऊंची हो जाती हैं (वास्तव में सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था में लगाई गई या लगाई जाने वाली मुद्रा-पूर्ति में असमानुपातिक वृद्धि के कारण ही सामान्य कीमतों में वृद्धि होती है)।

10 सितम्बर, 1972 के 'पाइनियर', लखनऊ में प्रकाशित एक लेख में श्री एम० पी० पाई ने कहा :

> "कीमत के स्तर में भारी वृद्धि अथवा मुद्रा-स्फीति, देश की अस्वस्थ अर्थ-व्यवस्था का सूचक है। जैसे विश्राम की कमी अथवा खराब भोजन से शरीर-तंत्र की दुर्व्यवस्था प्रकृति को बाध्य कर देती है और व्यक्ति के शरीर में बुखार करके खतरे का संकेत पैदा करती है इसी प्रकार सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था की दुर्व्यवस्था का परिणाम यह होता है कि देश में ऊंची कीमतों अथवा मुद्रा-स्फीति का ज्वर चढ़ जाता है, इससे जनता के पास एक ओर मुद्रा-पूर्ति और दूसरी ओर जनता के लिए उपलब्ध खरीदने योग्य वस्तुओं और सेवाओं के बीच गंभीर असंतुलन का पता चलता है। मुद्रा-पूर्ति सरकार का एकाधिकार है, इसलिए यह उसी स्थिति में बढ़ाई जाती है जबकि सरकार उचित रूप से अर्थव्यवस्था बनाए रखने में समर्थ नहीं होती। इसलिए मुख्य रूप से कीमतों में वृद्धि सरकार की नीति के कारण होती है। मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि और इसके फलस्वरूप उत्पन्न अभावों के कारण काला धन और काला बाजार पनपते हैं।"

करों की आवश्यक राशि बढ़ाकर व्यय की पूर्ति न कर सकने के कारण सरकार वर्ष-प्रतिवर्ष घाटा वित्तीयन का सहारा लेकर नोट छापने की पद्धति अपनाती रही है और जब सरकार आय से अधिक व्यय करती है तो मुद्रा-स्फीति होती है। सरकार का व्यय अत्यधिक क्यों है—यह एक अलग प्रश्न है और यह यहां हमारे अध्ययन का विषय नहीं है। यह कहना ही पर्याप्त है कि 1962 में पश्चिमी जर्मनी के डॉ० वीसामैन ने कहा था, "सामाजिक दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति सबसे बड़ा अपराध है जिसके लिए सरकार ही स्वयं उत्तरदायी है।"

इसके अलावा जिन लोगों को कृषि-उत्पादन की ऊंची कीमतों के विरुद्ध एलर्जी है, उन्हें यह जानना चाहिए कि किसान की निवल आय का अधिकांश भाग बढ़े हुए उत्पादन के उपायों अथवा संसाधन सुविधाओं में ही सदैव लगाया जाता है। इस प्रकार यदि किसान की आमदनी अपेक्षाकृत अधिक होगी तो आगामी वर्ष या वर्षों में कृषि उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक होगा जिसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ने के बजाय घटती जाएंगी।

इसके अतिरिक्त अधिक महत्त्व की बात यह है कि यदि किसान के पास अधिक धन हो अथवा उसकी क्रय-शक्ति अधिक हो तो इस बात की अधिक संभावना होगी कि व्यापार, परिवहन, उद्योग और अन्य कृषीतर रोजगार उभरेंगे जिनके बिना हमारे लोगों के रहन-सहन में कोई उन्नति नहीं हो सकती।

स्थिति यह है कि जब कभी सरकार अपने कर्मचारियों को अतिरिक्त महंगाई भत्ता प्रदान करने का निर्णय लेती है तो उसके दिमाग में मुद्रास्फीति के बारे में कोई भी तर्क नहीं बैठता। यह बात भी उस समय याद नहीं रखी जाती जब औद्योगिक कामगारों की मजदूरी बढ़ाई जाती है (जिसका सीधा प्रभाव यह होता है कि औद्योगिक उत्पादों की कीमतों में वृद्धि हो जाती है) अथवा जब हाल ही में एक महीने के वेतन के बराबर न्यूनतम बोनस निर्धारित किया गया था, और यह बात उस समय भी याद नहीं रखी जाती जब सार्वजनिक क्षेत्रक में स्थित कारोबारों के श्रमिकों की मजदूरी निर्धारित की जाती है और अनुचित ऊंची दरों पर उनकी अदायगी की जाती है।

आंकड़ों और अनुभव से भी यह सिद्ध होगा कि कृषि कीमतों की वृद्धि से शीघ्र ही कृषीतर वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है जिसके फलस्वरूप किसान के निवेशों के मूल्य में वृद्धि हो जाती है, और अधिक उत्पादन के फलस्वरूप कृषि-कीमतें गिर जाती हैं जिसके कारण काफी समय तक संतुलन नहीं हो पाता अथवा कम से कम उत्पादन-लागतों में या कृषि-निवेशों की कीमतों में तुरंत ही कमी करके संतुलन नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त चूंकि कृषि एक जैविक प्रक्रिया है। इसलिए इसे मौसम, चित्ती, पौधारोग, नाशी कीट, बाढ़ और आग की आपदाओं को झेलना पड़ता है और यह सब मुसीबतें विनिर्माण के मामले में नहीं होतीं। इसके अलावा इन दोनों में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार समायोजन की क्षमता में भी बहुत अन्तर है। उद्योग की तुलना में कृषि-क्षेत्र के श्रम और पूंजी में बहुत कम गतिशीलता होती है। एक किसान अपना उत्पाद नहीं बदल सकता, अपनी लागतें कम नहीं कर सकता अथवा अन्य क्षेत्रों में उस सरलता से नहीं जा सकता जैसाकि वस्तुओं का विनिर्माता अथवा कृषीतर कामगार कर सकता है।

सरकार कम-से-कम 1976 तक विदेशों से खाद्यान्न खरीदती रही है जिसकी आम तौर पर कहीं अधिक लागत आई और यह खाद्यान्न उस समय खरीदा गया जब विदेशी विनिमय मुद्रा का अभाव था जबकि इसकी तुलना में सरकार ने अपनी ही मुद्रा अपने ही किसानों को न तो अदा की और न ही अदा करने के लिए सरकार तैयार थी। 1974 में गेहूं 200 डालर टन की औसत कीमत पर आयात किया गया। सरकार ने देश में वसूली-कीमत 105 रुपये प्रति क्विंटल अथवा 132 डालर प्रतिटन निर्धारित की। इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि आयात किए हुए अनाज की अपेक्षा देशी गेहूं की गुणवत्ता कहीं अधिक अच्छी थी।

गेहूं की वसूली-कीमत यथार्थ रूप से कम थी, यह बात इस तथ्य से विदित होती है कि इसे 1974 और 1975 के दोनों वर्षों में राज-सहायता की योजना से सहारा दिया गया था।

पूर्ण न्याय तथा ईमानदारी के अनुसार कृषि-उत्पादन की वसूली-कीमत कृषि और कृषीतर कीमतों की समतुल्यता पर आधारित होनी चाहिए। अन्य बातों के साथ-साथ यह नियम ही किसानों द्वारा दी गई कीमतों और प्राप्त की गई कीमतों के बीच

संतुलन बनाए रखता है। किसी भी वर्ष में चावल और गेहूं की औसत कीमत का गुणा करके और उत्पाद को सौ से भाग देकर कीमत समता निकाली जा सकती है।

डॉ० वी० एम० दांडेकर ने अपने लेख में जिसका कि संदर्भ पहले ही दिया गया है, यह भी कहा है :

> "इस बात का काफी साक्ष्य है कि 1961-62 में विद्यमान कृषि और निर्मित वस्तुओं के बीच कीमत-समंता कृषि-विकास के लिए सहायक नहीं थी और कृषि के पक्ष में छोटा आंदोलन, जो 1961-62 और 1970 के बीच किया था, वांछनीय था। कुछ अन्य विकास भी हुए जो कृषि के पक्ष में समता के परिवर्तन के लिए दलील प्रस्तुत करते हैं।
>
> "कृषि को सारी जनता के भार को वहन करना चाहिए। जिसे उद्योग और अन्य संगठित क्षेत्रक नहीं उठा सकते और गत वर्षों से जनसंख्या में भी वृद्धि होती रही है। समतावादी नीतियों तथा गरीब के प्रति आम चिंता का भार मुख्यतया कृषि को ही उठाना पड़ा है। ऐसी परिस्थितियों में यद्यपि कीमत की स्थिरता निस्संदेह आवश्यक है, तथापि कृषि और विनिर्माण उद्योग के बीच और सामान्यतया और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों के बीच कीमत समता, जैसी कि वह ऐतिहासिक रूप से विद्यमान रही, निश्चित नहीं समझी जा सकती।"

यह महसूस करना चाहिए कि समता के सिद्धांत के अनुसार कृषि-कीमतों का निर्धारण किसानों के प्रति अति उदारता दिखाने वाला कार्य नहीं है बल्कि यह कृषि-उत्पाद की दी हुई मात्रा की उतनी ही क्रय-शक्ति बनाए रखने का साधन ही है, जैसा कि आधार वर्ष में थी। नियंत्रित बाजार की परिस्थितियों में कृषि-उत्पादकों को अवसमता कीमत के भुगतान में किसानों से अन्य वर्गों में धन का हस्तांतरण शामिल है और जबकि कृषि-उत्पादन की वृद्धि करने में हमारी असफलता का यह मुख कारण है, यही एक मुख्य कारण है जो समाज के अन्य वर्गों के लोगों की तुलना में ग्रामीण जनता की गरीबी को बढ़ाता रहता है। इसके फलस्वरूप, जैसा कि पाठक तालिका 83 (पृ० 265) में देखेंगे कि देश में खेती करने वाले और कृषीतर कामगार के बीच की आय का अनुपात स्वातंत्र्योत्तर 27 वर्षों की अवधि में कृषीतर कामगारों के पक्ष में दुगुना हो गया है, अर्थात् 1950-51 में 1 : 1.78 से बढ़कर 1977-78 में 1 : 3.45 हो गया।

यदि किसान अपनी आवश्यकताओं के लिए जो कुछ भुगतान करता है और अपने उत्पादन के लिए जो कुछ प्राप्त करता है इन दोनों प्रकार की कीमतों के बीच संतुलन नहीं बनाए रखा जा सका, अर्थात् यदि कीमतों को किसान के विरुद्ध तोड़ा-मरोड़ा गया, जैसा कि प्रायः होता रहा है, तो ऐसी स्थिति में ग्रामीण विकास अथवा ग्रामीण जनता के उत्थान के लिए अर्थव्यवस्था या अन्य नीतियों का न तो कोई अर्थ होगा और न संगतता होगी जैसा कि गत तीन दशाब्दियों में हुआ है, राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बावजूद देश की अर्थव्यवस्था गिरती चली जाएगी।

अभी हाल ही के वर्षों में कृषि-उपज का मूल्य लगभग 30,000 करोड़ रुपए रहा है और यह अनुमान है कि इस उपज में से 18,000 करोड़ रुपए के उत्पादन का विपणन किया गया है। इस प्रकार शेष भाग का उत्पादकों ने स्वयं ही उपभोग कर लिया है। यदि अन्य कीमतों की तुलना में कृषि-वस्तुओं की कीमतों का स्तर एक प्रतिशत भी कम हो जाता है तो देहाती क्षेत्रक में (क्रयशक्ति के रूप में) जो हानि होती है वह 180 करोड़ रुपए के बराबर है।

अक्टूबर, 1980 में कृषीतर उत्पादों की तुलना में कृषि-उत्पादों की कीमत का स्तर 45 प्रतिशत कम रहा। इस प्रकार 18,000 करोड़ रुपए, जो विपणित कृषि उपज का कुल मूल्य है, उस पर कीमत अव-समता की प्राप्ति के कारण ग्रामीण क्षेत्रक की निवल हानि 8,000 करोड़ रुपए से कम नहीं है।

समता के सिद्धांत के अनुसार कृषि-उपज की वसूली कीमतों का निर्धारण कोई नया अथवा निर्मूल विचार नहीं है। साम्यवादी चीन और लोकतांत्रिक अमरीका, इन दोनों ही देशों ने इसका अनुसरण किया है।

माओ-त्सीतुंग ने एक बार कहा था :

> "कुछ देशों में कृषि-उत्पादन की वृद्धि की असफलता का मूल कारण यह है कि किसानों के प्रति इस देश के शासन की नीति संदिग्ध है। किसान पर करारोपण का भार बहुत अधिक है, जबकि कृषि-उत्पादों की कीमत बहुत कम है और औद्योगिक वस्तुओं की कीमत बहुत ऊंची है। जब उद्योग का विकास किया जाए, विशेष रूप से भारी उद्योग का विकास किया जाए, तो हमें उस समय, कृषि संबंधी करारोपण की और औद्योगिक तथा कृषि-उत्पादों के कीमत निर्धारण की सही नीतियां अपनाकर कृषि को निश्चित प्रतिष्ठा देनी चाहिए।"[4]

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की 11वीं केंद्रीय समिति के तीसरे पूर्ण सत्र की विज्ञप्ति के अनुसार (22 दिसम्बर, 1978 को स्वीकृत की गई), "सत्र ने यह विचार (एवमेव) किया कि आगामी यथेष्ट समय तक कृषि-कर और राज्य द्वारा अनाज की खरीद के राष्ट्रीय आंकड़े 1971-75 के पंचवर्षीय कोटे पर आधारित होते रहेंगे और अन्न की खरीद कभी भी अधिक नहीं होनी चाहिए। औद्योगिक और कृषि-उत्पादों के मध्य कीमतों की असमानता को दूर करने के लिए यह पूर्ण सत्र सुझाव देता है कि राज्य परिषद् अनाज की खरीद की कीमत में 20 प्रतिशत की वृद्धि करने का निर्णय करे और यह वृद्धि 1979 से प्रारंभ होगी, जब ग्रीष्म ऋतु का अनाज बिकने के लिए बाजार में आ जाएगा और इस कोटे से जितना अनाज अधिक खरीदा जाएगा, उसकी कीमत में 50 प्रतिशत अतिरिक्त की वृद्धि कर दी जाए और कपास, खाद्य तेल, चीनी, पशु-चर्बी, जलजीवी और वन-उत्पादों तथा कृषि और सहवर्ती उत्पादों के लिए खरीद की

4. 'माओ-त्सीतुंग अनरिहर्सड् : टॉक्स एण्ड लैटर्स : 1966-71', इस्टूअर्ट श्रेम द्वारा संपादित, पृष्ठ 64.

कीमत में शनैः-शनैः वृद्धि ठोस परिस्थितियों के आधार पर की जाए। फार्म मशीनरी, रासायनिक, उर्वरक, कीटनाशक दवाइयां, प्लास्टिक और अन्य वस्तुओं की विनिर्मित कारखाने की कीमत और बाजार की कीमत में उत्पादन-लागत कम करके 1979-80 में 10 से 15 प्रतिशत तक कमी हो जाएगी और इस प्रकार जो लाभ होंगे वे सामान्य रूप से किसानों को ही उपलब्ध करा दिए जाएंगे।

अमरीकी कृषि विभाग ने 1970 में 'इयर बुक ऑफ़ एग्रीकल्चर' जारी की। इसमें 'कण्टूर्स ऑफ़ चेंज' (परिवर्तन की रूपरेखा) नामक अध्याय में कहा गया है :

> "इस शताब्दी के चौथे दशक (1931 से 1940 तक) में समता कीमतें, अर्थात् वस्तुओं के लिए किसानों द्वारा दी गई कीमतों की तुलना में फार्म उत्पादन की सही कीमतें, 1910-14 की अवधि को देखते हुए, किसानों, फार्म संगठनों और कांग्रेस का लक्ष्य बन गईं। समता कीमतें किसानों के लिए राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय संपत्ति की न्यायसंगत हिस्सेदारी हेतु मापदंड और सुरक्षा के साधन दोनों ही बन गईं।
>
> "वर्तमान समता अनुपात, जो 1910-14 पर आधारित प्राप्त कीमतों के सूचकांक और भुगतान की गई कीमतों के सूचकांक का अनुपात है, कृषि आय का सही माप नहीं है क्योंकि इसमें उत्पादकता की वृद्धियां, निवेश के लाभ अथवा प्रत्यक्ष भुगतान परिलक्षित नहीं होते। किसान इन दोनों बातों की ही चिंता करते हैं कि समतुल्य अनुपात लगभग 74 प्रतिशत है और कृषीतर कामगारों को जो कुछ भी मिलता है उसकी तुलना में खेती में लगे प्रति व्यक्ति की आय लगभग 73 प्रतिशत है। समता सूचकांक 1942 से 1952 तक 100 के बराबर या इससे अधिक रहा लेकिन उस समय से उसमें कमी आ रही है।"

भारत में शहरी और सरकारी क्षेत्रों की यह धारणा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपलब्ध आर्थिक विकास के लाभों का अधिकांश भाग किसानों को मिला है और उन्हें अब जितना कि वे हैं, उससे अधिक समृद्ध नहीं बनाना चाहिए।

पांचवीं योजना के प्रारूप में कहा गया है :

> "योजनाओं के अंतर्गत सार्वजनिक निवेश ने कृषि के विकास में काफी योगदान किया है। इसके साथ ही साथ कीमत की वृद्धि ने भी कृषि-आय में काफी वृद्धि की है फिर भी राजकोष में कृषि का योगदान आय की वृद्धि के साथ मेल नहीं खाता। कृषि पर प्रत्यक्ष कर बहुत कम है। यह कर कृषि से निवल घरेलू उत्पाद का कठिनाई से एक प्रतिशत है।" जो कुछ ऊपर कहा गया है उसकी पुष्टि में यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया ने जो कुछ अध्ययन किया है उसके अनुसार "भूराजस्व और कृषि आयकर दोनों मिलकर राज्य सरकारों की कुल कर-प्राप्तियों का केवल 6.2 प्रतिशत भाग या और 1975-76 में उनकी विकास पूंजियों का अंशतः 3.0 प्रतिशत योगदान किया

> रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया की रिपोर्ट में कहा गया है कि अतिरिक्त राजस्व की खोज करते हुए राज्य सरकारों ने कृषि क्षेत्रक की शक्ति का शोषण नहीं किया है जो गत वर्षों में अधिक सार्वजनिक निवेश के कारण अत्यधिक लाभ उठा चुके हैं।"
>
> रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया का यह भी कहना है कि "इसके साथ ही साथ सिंचाई और बिजली-योजनाओं की लागतों में काफी वृद्धि हुई है। समता के प्रतिफल यह सुझाव देते हैं कि सिंचाई और बिजली की सुविधाओं से लाभ उठाने वालों को उनकी लागत के प्रति अपने अंशदान की प्रतिपूर्ति करनी चाहिए और अप्रत्यक्ष रूप से विकास पूंजी-लागत को वित्तपोषित करना चाहिए।"

ऐसा लगता है कि हमारे शासकों को यह नहीं पता है कि (i) जब 1970-71 की कीमतों पर कृषि का योगदान और संबंधित कार्यों के निवल राष्ट्रीय उत्पाद में 1950-51 में 54.5 प्रतिशत योगदान रहा जो 1977-78 में घटकर 43.0 प्रतिशत रह गया; (ii) राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम (एन० डी० पी०) में कृषि के 72 प्रतिशत भाग को जनता में बांटा गया है जबकि कृषीतर कार्यों के अंशदान को केवल 28 प्रतिशत जनता में बांटा गया है; (iii) इसके फलस्वरूप कृषि कामगार और कृषीतर कामगार की आय का अनुपात 1950-51 में 1:1.78 से घटकर 1977-78 में 1:3.45 हो गया है; (iv) दो व्यक्तियों में से जिनमें से एक की वार्षिक आय 4,630 रुपए है और दूसरे व्यक्ति की आय 1,341 रुपए (देखिए तालिका 83, पृ० 265) है, पहला व्यक्ति तुलनात्मक रूप से अधिक कर देने की क्षमता रखता है जबकि दोनों की आय के मध्य अनुपात से कुछ और ही अनुमान निकलता है; और (v) अंत में योजना आयोग और रिजर्व बैंक ने अपनी भाषा में जो कुछ भी कहा है उस अभिव्यक्ति के विरुद्ध कर-प्राप्तियों का शेष 94 प्रतिशत भाग, अर्थात् वह भाग जो भूराजस्व और कृषि आयकर नहीं है, कृषीतर जनता द्वारा वहन नहीं किया जाता है। इसका कहीं अधिक भाग किसान समुदाय द्वारा उत्पाद शुल्क और अन्य अप्रत्यक्ष करों के रूप में किया जाता है।

हमारे शासकों को यह भी पता नहीं है कि प्रत्येक किसान को, चाहे उसकी आय कुछ भी क्यों न हो, राज्य सरकार को भूराजस्व अथवा विकास कर के रूप में प्रत्यक्ष कर देना होता है और एक नगर निवासी अथवा कृषीतर कामगार को आज केवल उसी स्थिति में कर देने की आवश्यकता है जब वह प्रतिवर्ष 12,000 रुपए से अधिक राशि की आमदनी कर पाता है।

प्रश्न यह है कि किसानों पर वही मानदंड क्यों नहीं लागू होता यदि उनको भारत का समान नागरिक माना जाता है? लेकिन यह ठोस तर्क सरकार को स्वीकार नहीं है क्योंकि यदि उन्होंने यह स्वीकार कर लिया तो 90 प्रतिशत से अधिक कृषि-परिवारों को किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष करों से छुटकारा मिल जाएगा। इसलिए उसके साथ अन्य प्रकार का व्यवहार किया जाता है और उन्हें निम्नतर प्रकार का नागरिक

समझा जाता है तथा चाहे वे अपनी गुजर न कर पायें, फिर भी उनसे ऐंठकर कर ले लिया जाता है।

अधिकांश पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि 1970-71 में जो कृषि जनगणना की गई थी उसके अनुसार भारत में 51 प्रतिशत जोतें 1 हेक्टेयर अथवा 2.5 एकड़ से कम थीं और केवल 15 प्रतिशत 10 एकड़ से अधिक थीं।

जब संसद के कांग्रेस सदस्य श्री के०सी० पांडेय ने 1973 के अंत में किसी समय सदन में सरकार से यह पूछा कि सरकार भारतीय किसानों को ऊंची कीमतों के लाभ से क्यों वंचित कर रही है, जबकि इस प्रकार का लाभ कनाडा और अमरीका के किसानों को दिया जा रहा है, तो खाद्यान्न और कृषि-राज्य मंत्री श्री शिंदे ने इसके उत्तर में यह कहा कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर की अपेक्षा भारत का रहन-सहन का स्तर बहुत ही कम है। उन्होंने यह भी कहा कि भारतीय किसानों को दी जाने वाली कीमत देश की अर्थव्यवस्था से संबंधित होनी चाहिए।

सरकार ने जैसा कि ऊपर उत्तर दिया है यदि उसको यथातथ्य स्वीकार भी कर लिया जाए तो यह कहना होना कि भारतीय किसान को गरीब ही रखना है क्योंकि वह गरीब है लेकिन इस कथन से पूर्ण तथ्य व्यक्त नहीं होता। इसके दो (अन्य) कारण हैं जिन्हें सरकार ने कृपापूर्वक नहीं दिया है : पहला, सस्ता खाद्यान्न नगर के निवासियों के लिए उपयुक्त था और दूसरे, नगरवासी के लिए किसान आर्थिक प्रगति की चक्की में पिसने वाला अनाज-भर ही था जिसकी हड्डियों से भारी उद्योग का ढांचा तैयार होना था। अतः इन किसानों का भी पालन करना था। इन उद्देश्यों की दृष्टि से उनको अंततोगत्वा सहकारी फार्मों में सटकर इकट्ठा होना था, अलबत्ता हमारे तत्कालीन शासकों को यदि कोई रास्ता मिल पाता।

यह महसूस करना चाहिए कि सस्ते खाद्यान्न की आपूर्ति और अपेक्षाकृत अधिक खाद्यान्न का उत्पादन दो अलग-अलग समस्याएं हैं। इनमें से पहली सामाजिक समस्या है और इसके निराकरण के लिए कीमत में राज-सहायता की अपेक्षा की जाती है। दूसरी कृषि-समस्या है जिसका निराकरण किसानों को प्रोत्साहन देकर अधिक उत्पादन के लिए केवल प्रोत्साहित करना आवश्यक है। यदि किसी कृत्रिम उपाय से उसके उत्पादन की कीमत बाजार के स्तर से कम कर दी जाए तो इससे किसान को मानसिक रूप से अवसाद मिलता है और इससे भूमि में श्रम और पूंजी के निवेश में कमी हो जाती है और इस प्रकार उत्पादन कम हो जाता है। फिर भी, सरलता से एक योजना बनाई जा सकती है जो एक ओर सरकार के कर्त्तव्य और दूसरी ओर किसान की स्वाभाविक इच्छा के बीच उभरे संघर्ष को समाप्त कर देगी। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि अकाल के समय उन व्यक्तियों के लिए खाद्यान्न सुनिश्चित करा दिया जाए जो स्वयं खाद्यान्न खरीदने के लिए बहुत ही गरीब हैं और किसान की स्वाभाविक इच्छा यह है कि वह जो कुछ भी अपना श्रम और पूंजी लगाता है, उसके बदले में उसे अधिक लाभ सुनिश्चित हो सके। (उसकी यह इच्छा राष्ट्रीय हित से मेल खाती है) अंततोगत्वा किसान का हित उस गरीब से भी मेल खाता है। यदि अधिक उत्पादन के इस प्रोत्साहन को बनाए

रखा जा सका और उसे आगे बढ़ाया जा सका तो इसका परिणाम यह होगा कि कुल मिलाकर सभी लोगों के लिए सस्ता खाद्यान्न मिल सकेगा और यदि यह स्थिति आज ऐसी नहीं है तो कल यह स्थिति अवश्य हो जाएगी।

नगरोन्मुख खाद्यान्न-कीमत नीति का मुख्य उद्देश्य, जैसा कि गत पृष्ठों में चर्चा की गई है, शहरी उपभोक्ताओं को खाद्यान्न-आपूर्ति को सुनिश्चित कराना है--चाहे उनकी आर्थिक दशा कैसी ही क्यों न हो और यह आपूर्ति यथासंभव सबसे सस्ती दरों पर की जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खाद्यान्न, वनस्पति तेल और चीनी के आयात, सरकार को भारी हानियां होते हुए भी, किए गए हैं। यद्यपि शहरी परिवारों की कुल संख्या की अपेक्षा ग्रामीण निर्धन परिवारों की संख्या बहुत अधिक है फिर भी गांवों तक 30 प्रतिशत राज-सहायता-प्राप्त खाद्यान्न कभी भी नहीं पहुंचा है।

दो वर्षों, 1978-80, में हमने खाद्यान्न तेलों के आयात पर ही 1,200 करोड़ रुपए की राशि व्यय की है। वर्ष 1980-81 में यह राशि 600 और 700 करोड़ रुपए के बीच में होगी। इसमें चीनी के आयात पर 120 करोड़ रुपए जोड़े जाएंगे। न तो वनस्पति तेल, न चीनी ही ऐसी वस्तुएं हैं जिनके बगैर भारतीय जीवित नहीं रहेंगे। वास्तव में, अब तक इन उत्पादों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता को बढ़ाने के लिए ही आयात किए गए हैं ताकि घरेलू कीमतों को प्रतिबंधित किया जा सके। न तो उपभोग के पुराने स्तर पर उपलब्धता की कमियों और न ही घरेलू कीमतों ने इतने अधिक आयातों को न्यायसंगत सिद्ध किया है।

कृषि-कीमतों को अनुचित रूप से केवल कम करने के लिए राष्ट्रीय राजमुद्रा में से भारी व्यय करके कृषि-उत्पादों का आयात करने की भारत सरकार की नीति रही है जिसका एक अन्य उदाहरण उस विसकोस रेशे के आयात से मिल जाता है जिसने इस देश के कपास-उत्पादकों को भारी हानि पहुंचाई है। विसकोस अथवा मानव निर्मित अन्य रेशों का आयात बिल्कुल भी आवश्यक नहीं था क्योंकि कपास के रेशों का हमारा घरेलू उत्पादन हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक पर्याप्त था; फिर भी ये आयात किए गए जिसके कारण कच्ची कपास का कीमत सूचकांक मई, 1977 में 214 से कम होकर अक्टूबर, 1978 में 165.6 रह गया और इससे 22.6 प्रतिशत की कमी हुई।

इसलिए जैसे-जैसे कपास-उत्पादन तीव्र गति से बढ़ता हुआ संतुलित प्रतीत होता है, वैसे-वैसे इस देश में कपास-उपभोग गत कुछ वर्षों से धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। कपास का उपभोग 1975-76 और 1977-78 के मध्य 75.5 लाख गांठों से गिरकर 65.4 गांठें रह गया जबकि इसी अवधि में मानव-निर्मित रेशों की खपत 5.2 लाख गांठों से बढ़कर 11.4 लाख गाठें हो गईं।

इस तथ्य के बावजूद ऐसा हुआ कि मूल रेशों की तुलना में कपास भारतीय जलवायु के लिए बहुत उपयुक्त है और इसमें अधिक श्रम की खपत हो सकती है और साथ ही साथ इसका बिनौला बोनस के रूप में प्राप्त हो जाता है।

कृषि-उत्पादों के आयात के अतिरिक्त भारत सरकार ने कारखाने के मालिकों

के लिए सस्ते-कच्चे माल का आयात किया है (लेकिन किसानों के लिए ऐसा नहीं किया है) जबकि भारत सरकार ने सस्ती औद्योगिक उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर कठोर प्रतिबंध प्रायः आरोपित किए हैं और इसी प्रकार के कई अन्य उपाय भी केवल इस उद्देश्य से अपनाए हैं कि किसानों अथवा ग्रामीणों के विरुद्ध और उद्योगपतियों तथा नगर निवासियों के पक्ष में व्यापार की शर्तें ही बदल दी जाएं।

कृषि-उत्पादों के आयातों के बारे में जहां तक हमारी सरकार की नीति है, उसके संबंध में हम 'फार्मर्स वॉयस', नई दिल्ली, जनवरी, 1981 में प्रकाशित श्री भानुप्रताप सिंह के लेख से निम्न अंश उद्धृत करेंगे :

> भारत सरकार कृषि-उत्पादों पर निर्यात-कर के रूप में लगभग 150 करोड़ रुपये की राशि एकत्र कर लेती है जबकि वह कृषीतर क्षेत्रक में निर्यातकों को निर्यात-सहायता के रूप में लगभग 400 करोड़ रुपये दान दे देती है। क्या इस दोहरे मापदंड का कोई औचित्य है? क्या कृषि-उत्पादों पर निर्यात कर का आरोपण निर्धन उपभोक्ताओं के हित में स्पष्ट किया जा सकता है?
>
> कृषि-उत्पादों के निर्यात से पैदा किया गया एक पैसे का लाभ भी किसानों को नहीं मिला है। भारत सरकार 10 लाख टन चावल के निर्यात की योजना बना रही है। घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय बाजारों की दरों के बीच अन्तर प्रति टन 1,500 रुपये से कम नहीं है लगभग 150 करोड़ रुपये का लाभ कहां जाएगा?
>
> मूंगफली के निर्यात में 12,000 रुपये प्रतिटन का सीमांत लाभ है। 2 लाख टन निर्यात किए जाने का प्रस्ताव है। 240 करोड़ रुपये का लाभ कौन प्राप्त करेगा?
>
> कपास के निर्यात के संबंध में भी इसी प्रकार की घटा-बढ़ी की स्थिति है।
>
> यदि इन सभी को जोड़ दिया जाए तो लगभग 1,500 करोड़ रुपये बनते हैं। यह सम्पूर्ण राशि तस्करों, काले धंधे के व्यापारियों, राजनीतिज्ञों को धनी बनाने में चली जाएगी और इसी राशि में से सार्वजनिक क्षेत्रक के निगमों और सरकारी खजानों के पेंदी रहित गड्ढों की पूर्ति होगी।
>
> ऊपर दिए गए केवल कुछ ही उदाहरण हैं। कृषि-उत्पादों के गलत तरीकों से प्राप्त किए गए लाभों को उजागर करने के लिए एक शोध ब्यूरो की आवश्यकता होगी क्योंकि कृषि-उत्पादों से उत्पादक या उपभोक्ता में से किसी को भी लाभ नहीं होता। क्या उपभोक्ताओं के हितों को किसी प्रकार भी हानि पहुंचाए बिना किसानों के लाभ के लिए इन सभी को एकत्र नहीं किया जा सकता?

सारांश में, हम फिर उस बात की ओर ध्यान दिलाएंगे जो ग्रामीण निर्धन व्यक्तियों के निर्भीक समर्थक को गरीब देशों की सरकारों की कीमत विषयक नीतियों के संबंध में कहना है, यथा—उन वस्तुओं की कीमतें जिन्हें किसानों को बेचना है और उन

वस्तुओं की कीमतें जिन्हें किसानों को खरीदना है : "कई गरीब देशों की तुलना से यह पता चलता है कि फार्म क्षेत्रक से 10 से 15 प्रतिशत फार्म की आमदनी अलग कर ली जाती है और इसे शेष अर्थव्यवस्था में हस्तांतरित कर दिया जाता है। यह ऐसी नीतियों द्वारा किया जाता है जिनके अंतर्गत किसानों और खेतों में काम करने वाले कामगार जो कुछ खरीदते हैं उनकी कीमतें बढ़ जाती हैं और जो कुछ भी वे बनाते हैं तथा बेचते हैं उनकी कीमतें कम हो जाती हैं। यद्यपि जो कुछ खरीदा और बेचा जाता है, उनके मूल्य के संघात द्वारा यह केवल कीमत की घटा-बढ़ी के परिवर्तन के प्रभाव को ही स्पष्ट करता है लेकिन उनके कारण ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र को अन्य दो प्रकार के आय 'अंतरण' भी होते हैं : (1) अपेक्षाकृत ऊंची कीमतों से कृषीतर क्षेत्रक में काम करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है जबकि इसके विपरीत कीमतों के कम हो जाने से उत्पादन और आय में कमी होते ही कृषि क्षेत्र में काम करने वाले हतोत्साहित होते हैं और (2) कृषि क्षेत्रक के बजाय कृषीतर क्षेत्रक में बचत करने वालों के निवेश को वित्तपोषित करने के लिए (उत्पादन) प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि कीमतों की घटा-बढ़ी कृषीतर क्षेत्रक में अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद स्थिति बना दी है। यदि हम इन दोनों प्रभावों को शामिल कर लें तो कृषि और कृषीतर क्षेत्रकों में पचास-पचास के अनुपात में विभाजित उत्पादन वाले उस अल्प विकसित देश में कीमत की घटा-बढ़ी से किसानों और फार्म के कामगारों की आय में आसानी से 15 से 20 प्रतिशत की आय कम कर सकते हैं तथा "अपेक्षाकृत 'कम'[5] राशि के जरिये अर्थव्यवस्था में अन्य लोगों की आय बढ़ा सकते हैं।"

थियोडोर डब्ल्यू॰ शुल्ज ने, जिन्हें अभी हाल ही में अर्थशास्त्र के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया है, अपने लेख 'पॉलिटक्स वर्सिस इकनॉमिक्स इन फूड एंड एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन' में जो 'इकनॉमिक इम्पैक्ट' (अंक संख्या 31) में प्रकाशित हुआ है यह कहा है :

> "फिर भी कुछ देशों, विशेषकर यूरोपीय आर्थिक समुदाय और जापान में, कृषि-उत्पादों की कीमत बहुत रखी जाती है। इन देशों ने 'हरित कृषि' को राजनीतिक रूप से स्वीकार किया है। इसके विपरीत छोटी आय वाले कई देशों ने कृषि-उत्पादों की कीमतें कम रखी हैं और ऐसा करने में उन्होंने राजनीतिक साधनों के द्वारा 'करारबद्ध खेती' का सृजन किया है ताकि शहरी जनता को सस्ते खाद्यान्न की आपूर्ति की जाय।"

सहायता-मूल्यों के निर्धारण में समता के सिद्धांत की अवहेलना, कृषि समुदाय की तुलना में शहरी क्षेत्रक के पक्ष में कीमतों की घटा-बढ़ी; भंडारन और विपणन-सुविधाओं की अपर्याप्तता; ऋण की अनुपलब्धता; अनावश्यक आयात; कृषि-

5. 'कम' प्रक्रिया (कुशल कृषि-कार्यों को निराश करना, ऊंची लागत के उद्योगों को प्रोत्साहित करना) की अकुशलताओं और प्रशासकीय लागतों के कारण।

स्रोत : 'वाई पूअर पीपल इस्टे पूअर', माइकेल लिपटन, पृ॰ 270.

उत्पादों के निर्यात पर अनिच्छुक निर्णय; मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए प्राय: लिया जाने वाला तर्कहीन दृष्टिकोण, यथा—कृषि-वस्तुओं की कीमतों को वश में ही रखना चाहिए, चाहे वे अन्य वस्तुओं की कीमतों की तुलना में पहले से ही कितनी ही कम क्यों न हों, इन सभी कारकों ने मिलकर हमारे देश में कृषि-कीमतों को अनुचित रूप से कम ही रखा है यद्यपि कृषीतर वस्तुओं की कीमतें काफी ऊंची हो गई हैं। अत: भारतीय कृषि को 'करारबद्ध कृषि' ही मानना ठीक हो सकता है।

भारत सरकार की यह नीति शोषण की मात्रा, असमान व्यवहार को प्रकट करती है जिसकी तुलना में पूंजीवादियों और श्रमजीवियों के बीच का अंतर शहरी संघर्ष बिल्कुल ही नगण्य है।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों है? इसका उत्तर है कि राजनीतिक सत्ता शहर के निवासियों के हाथों में है और यह स्वाभाविक ही है कि वे शहरी हितों को ही प्राथमिकता देते हैं।